शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० लि०,
आगरा के लिए
साहित्य-रत्न-भण्डार
आगरा ने प्रकाशित की।

प्रथम संस्करण
१९४५
मूल्य १॥)

मिलने के अन्य पते—
१—साहित्य-रत्न-भण्डार,
आगरा।
२—रामप्रसाद एण्ड संस,
आगरा।

प्राक्कथन

सन् १९२० से १९४४ तक—यानी पिछले २५ वर्ष—हमारी स्वाधीनता की लड़ाई के ऐसे वर्ष हैं जिन्हें भारतवासी कभी भूल नहीं सकते। इन २५ वर्षों में देश ने महात्मा गांधी के सफल नेतृत्व में स्वाधीनता के मार्ग में बहुत तेजी से और दृढ़ता के साथ आगे कदम बढ़ाया है और आज हम उस मञ्जिल तक पहुँच चुके हैं जहाँ से स्वाधीनता का सुन्दर और मनोरम महल स्पष्ट दिखाई देता है।

पालीवाल इस संग्राम में प्रारम्भ ही से रत रहे हैं, और एक जिम्मेदार सैनानी के रूप में इस संग्राम के संचालन में उन का विशेष हाथ रहा है। उनका "सैनिक" तो इस संग्राम में इतना व्यस्त रहा है कि न मालूम कितनी बार उसे मरना और मर करके फिर जीना पड़ा है। वास्तव में उसका जीवन अमरता का सन्देश देता है। ऐसी दशा में स्वाधीनता के संग्राम का इतिहास लिखने के लिए पालीवाल जी सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति हैं। प्रस्तुत पुस्तक में पालीवालजी ने स्वाधीनता संग्राम का केवल इतिहास ही नहीं लिखा है—उसकी घटनाओं और उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों की आलोचना भी बड़े मार्मिक ढंग से की है। यही नहीं, आपने संग्राम की कमियों और उनके अभावों पर भी दृष्टिपात किया है और आखिरी मञ्जिल तक पहुँचने के लिए दिशानिर्देश भी किया है। यह पुस्तक प्रत्येक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता को—इस संग्राम के प्रत्येक सिपाही को—अवश्य पढ़ना चाहिये।

—महेन्द्र

विषय सूची

सिंहावलोकन

जब कभी हम १६२०, १६३० और १६४२ के संघर्षों का याद करते हैं तो हृदय एक अनिर्वचनीय आनन्द अनुपम आत्मिक आह्लाद और गर्व से भर जाता है। इन संघर्षों से हमारे देश और उद्देश्य को उत्तरोत्तर आशातीत लाभ पहुँचा। १६२० की मुठभेड़ ने साल भर में ही भारत जैसे लम्बे-चौड़े, आठ लाख गाँव और पैंतीस करोड़ जन-संख्या वाले देश में जो चमत्कारिक जन-जागृति कर दिखाई वह मानव-स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में अनुपम है। उसने हममें स्वाभिमान और 'ष्ट्राभिमान की सृष्टि की। हम में निर्भयता और आत्म विश्वास का ाव जगाया। संक्षेप में, उसने जमाना ही बदल दिया। नई जमीन, नया आस्मान, नया रङ्ग, देश में सब कुछ नया हो गया। इस मुठभेड़ से पहले हिन्दुस्तानी गोरों को देखकर काँपने लगते थे। औरों की क्या बात, १६१६ तक स्वयं राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस में इस बात पर बड़ी गम्भीर और लम्बी बहसें होती थीं तथा राजनैतिक शक्ति व्यय होती थी कि कहीं 'होमरूल' शब्द का प्रयोग करने से अँग्रेज़ नाराज़ तो नहीं हो जायँगे, लेकिन १६२० के बाद अँग्रेज़ और हुक्काम गाँधी टोपी से डरने लगे। १६२० के बाद की भारतीय राजनीति का यह सत्य राष्ट्र-कवि की इस पंक्ति में व्यक्त हुआ:—"टोपधरों को मात किया इन गाँधी टोपी वालों ने।" १६२३ में यह जन-जागृति चुनाव में काँग्रेस-स्वराज्य-पार्टी

की विजय के रूप में संसार के सामने प्रत्यक्ष हुई। १६२४ में जब इन पंक्तियों का लेखक सूबे की तत्कालीन कौंसिल का स्वराजी मेम्बर हुआ, तब उसने अपने कानों से वहाँ के उच्चतम हुक्कामों के चपरासियों को यह कहते हुए सुना कि, "अब तो ज़माना बिल्कुल ही उलटा हो गया है। इससे पहले जब सिर्फ राजा और नवाब मेम्बर होते थे तब वे हुक्कामों से मिलने के लिए हमारी खुशामद करते थे, हमें दस-दस रुपये बख्शीश देते थे, तब मिल पाते थे लेकिन अब ये स्वराजी लोग चिक उठा कर सीधे बड़े से बड़े हुक्काम के दफ्तर में दनदनाते हुए घुस जाते हैं और कोई हुक्काम भी चूँ नहीं करता।" इन्हीं दिनों तत्कालीन इम्पीरियल लेजिस्लेटिव "एसेम्बली" के किसी अँग्रेज़ मेम्बर ने यह कहा था कि एक समय था जब एसेम्बली के हिन्दुस्तानी मेम्बरों को स्पीच देते हुए इस बात का डर रहता था कि कहीं हम ऐसी बात न कह जायँ जिससे हुक्काम और सरकार नाराज़ हो जायँ, लेकिन अब सरकारी और यूरोपियन मेम्बरों को यह डर रहता है कि हम से कोई ऐसी बात न निकल जाय, जिसके पीछे स्वराजी मेम्बर हमें चैंथ डालें। आई. सी. एस. के विलाशक सब से अधिक योग्य व्यक्ति सर मालकम हेली, जब भारतीय-सरकार के होम मेम्बर के बजाय पञ्जाब के गवर्नर हुए तब उन्होंने खुद सरे आम यह कहा था कि, "खुदा का शुक्र है कि नेहरुओं और पटेलों से मेरी जान बची।"

इसी मुठभेड़ के बाद भारत के नौनिहाल यह गीत गाने लगे थे कि, 'परवाह अब किसे है, इस जेल और दमन की, एक खेल

हो गया है, फाँसी पै भूल जाना।" १६२८ में यह जागृति और वीरता साइमन कमीशन के वृहत् बायकाट के रूप में प्रदर्शित हुई और निस्सन्देह उस समय हिन्दुस्तानी नौकरशाही ने स्वर्गीय लाला लाजपतराय जैसे लोक-नायकों पर जितने लाठी प्रहार किये उतनी ही कीलें ब्रिटिश साम्राज्यशाही के कफन में गाढ़ीं।

इन संघर्षों के सुफल स्वरूप देश में धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक चौमुखी क्रान्ति हुई। धार्मिक क्षेत्र में सुविशाल हिन्दू-समुदाय 'सड़ातन' धर्म को छोड़कर स्वधर्म के सनातन सिद्धान्तों को उनके मर्म को समझने लगा। उसे याद आई अपनी उन सन्त वाणियों की जिनमें कहा गया है, "जाति-पाँति पूँछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि कौ होई।" अथवा, "जाति-पाँति में क्या धरा, सीख लीजिये ज्ञान। मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान!" उसे याद आई भगवान-कृष्ण की इस अमर वाणी की कि, "येऽप्यन्य देवताः भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्ति विधि पूर्वकम्।" उसे याद आई अपने अतीत की उस शक्ति की जब उसने शकों, हूणों, यवनों को अपने में मिला लिया था। तथा गौतमबुद्ध को भगवान् बुद्ध बनाया था। उसे याद आई सीता और सावित्री की ही नहीं—दुर्गावती और रानी लक्ष्मीबाई की भी। उसके कवि गाने लगे, "धनि-धनि भारत की क्षत्राणी। वीर प्रसविनी, वीर कन्यका वीर वधू जग जानी।" और, "बुन्देले चौबोलों से यह हमने सुनी कहानी थी। खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी!" "परिणाम, कांग्रेसियों

ने खुल्लमखुल्ला जड़ जाति बन्धनों को तोड़ फेंका। वे जन्मना वर्ण न मान कर कर्मणा वर्ण मानने लगे। उन्होंने चातुर्वर्ण्य को तो भगवनकृत् माना, परन्तु चार के चार हज़ार मूढ़-ग्राहों को उन्होंने वीरता पूर्वक ठुकराना प्रारम्भ किया। वे सानन्द परस्पर सहभोज करने लगे। नेहरू और गान्धी परिवार ने ही नहीं, अनेक अन्य काँग्रेस-जनों ने भी जाति-बन्धनों को तोड़कर विवाह-सम्बन्ध किये। हरिजन, मुसलमान सभी को उन्होंने 'आत्मौपम्य' समझ कर गीता पथ पर चलना आरम्भ किया और हिन्दू समाज ने भी विस्मय और आदर के साथ अपने इन नीलकण्ठों को अपनाया।

आर्थिक क्षेत्र में भी आशातीत उन्नति हुई। विदेशी शक्कर की प्रतिस्पर्धा से रक्षा करने के लिए जिस स्वदेशी शक्कर का व्यवहार करने के लिए देशवासियों से धार्मिक अपील तक करनी पड़ती थी वह स्वदेशी शक्कर का व्यापार इतना बढ़ा कि आज विदेशी शक्कर कहीं दिखाई भी नहीं देती। यही हाल विलायती कपड़े का हुआ। १९३० तक जिस विलायती कपड़े के बायकाट के लिए धरना देना पड़ता था तथा सहस्रों स्वयं-सेवकों को जेलों और लाठियों का शिकार होना पड़ता था। लोहे और सीमेन्ट का व्यवसाय भी इतना चेता कि इसमें भारत लगभग पूर्णतया स्वावलम्बी हो गया। लोहे का काम तो आज भारत में एशिया भर में सब से अधिक है। और भी अनेक उद्योग-धन्धे इसी प्रकार स्वदेशी, स्वराज्य तथा सत्याग्रह का बल पाकर फूले फले।

देश को अनेक अर्थ शास्त्राचार्यों ने इन आर्थिक लाभों की चर्चा की है। 'तवाकाल' का कहना है कि गाँधी जी के आन्दोलन ने बाईस बरस में राष्ट्र के तेतीस अरब रुपये बचाये।

परन्तु इससे कहीं अधिक युगान्तरकारी और सन्निहित सम्भावनाओं से भरा हुआ लाभ वह है जो महात्मा गान्धी ने चरखा-खादी तथा ग्रामोद्योगों, घरेलू उद्योग-धन्धों के रूप में हमें दिया है। उन्होंने हमें यह बता दिया है कि भारतीय अर्थ-शास्त्र पाश्चात्य शहरी अर्थशास्त्र नहीं—भारतीय ग्राम्य अर्थशास्त्र है जो धर्म द्वारा अर्थ उपार्जन करके ही अपनी कामनाओं की सिद्धि का प्रतिपादन करता है। वह न केवल भारत की गरीबी की समस्या को हमारी आर्थिक समस्या को जीवन की समस्त आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा कर सकने वाले प्रति-व्यक्ति राष्ट्रीय विभाज्य की समस्या को ही सफलता पूर्वक हल करता है बल्कि शोषण, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, फासिस्ट-वाद आदि की उन सब विभीषिकाओं से भी हमारी जान बचाता है जो आज तक पाश्चात्यों को पतन और विनाश की ओर लिये जा रही हैं। उसमें मानवी, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के लिये समुचित स्थान है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों का सुन्दरतम समुच्चय है। वह विश्व-शान्ति, विश्व-सङ्घ, मानव-स्वाधीनता और लोकतन्त्र तथा सर्वोदय का सुन्दर साधन है।

सामाजिक क्रान्ति की कुछ झलक धार्मिक क्रान्ति की चर्चा

में आचुकी है। परन्तु उसके कुछ पहलू विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पहलुओं में सबसे पहले, राष्ट्रीय वेश-भूषा, श्रम के सम्मान और मानव की एकता तथा आध्यात्मिक समता का पहलू है। खादी में हमें राष्ट्रीय वर्दी अपने आप मिल गई। खादी के धवल वस्त्र हमें न केवल लोचन-सुखद ही मालूम होने लगे हैं बल्कि उनमें हमें प्रतिष्ठा और सम्मान भी मिला है। गान्धी-टोपी और खादी की साड़ी देखते ही सहज ही हमारा मन आकर्षित हो जाता है। खादी ने वर्गों और सर्वसाधारण के बीच की शोचनीय खाई को बहुत कुछ पाटा है। काँग्रेस में श्रम के सम्मान और मानव की एकता तथा आध्यात्मिक समता का साम्राज्य है। बच्चों और महिलाओं की जाग्रति सामाजिक क्रान्ति के दूसरे देदीप्यमान पहलू हैं। असूर्यम्पश्याकुलाङ्गनाओं ने जिस प्रकार यकायक परदे को छोड़ कर सहस्रों की संख्या में सत्याग्रह-संग्राम में भाग लिया, शराब की दुकानों की पिकेटिंग की, लाठियों की मार और जेल की नारकीय यातनाएँ सहीं तथा वीरतापूर्वक गोलियों का सामना किया, इस अमर कहानी को कौन नहीं जानता ? और कौन ऐसा अभागा है जो बिल्ली-दलों और वानर सेनाओं के साहसिक कार्यों की स्फूर्त्ति प्रदायक कथाओं को नहीं जानता ? जो काम देश की सुधार संस्थाएँ तथा धर्मोपदेशक दशाब्दियों में नहीं कर सके वह इन संघर्षों ने वर्षों में कर दिखाया।

राजनैतिक क्षेत्र में तो इन संघर्षों के सुफल सबके सामने हैं। किसी समय काँग्रेस में राजनैतिक जाग्रति के लिए यह प्रार्थना गाई जाती थी।

जगा दे भारत को करतार।
धनी जगें, श्रमजीवी जागें, जगे कृषक-परिवार।
ऐसा जगे खोजता निज बल, मान-वुद्धि अधिकार॥

आज यह प्रार्थना पूरी हो चुकी है। आज भारत धनी, कृषक, श्रमजीवी-भारत समस्त भारत जगा हुआ है। वह उद्‌बुद्ध है और अपना बल, तथा अपना मान प्राप्त करके वह साम्राज्य-वाद की समस्त शक्तियों को ललकार कर यह कह रहा है कि:—

"दीन हैं हम किन्तु रखते मान हैं।
भव्य भारतवर्ष की सन्तान हैं॥
न्याय से अधिकार अपने चाहते।
कब किसी से माँगते हम दान हैं॥"

राजनैतिक क्षेत्र में हम मोरचे पर मोरचा फतह करते हुए आगे बढ़े हैं और १६४२ के स्वाधीनता संग्राम के बाद अपनी सामर्थ्य, तथा जनता की असीम शक्ति का ज्ञान प्राप्त करके इस दुर्दमनीय विश्वास के साथ अन्तिम मोरचे पर खड़े हैं कि हमारी विजय निश्चित है।

सब से अन्तिम परन्तु सब से अधिक महत्वपूर्ण लाभ हमें यह हुआ कि १६४२ के तूफान से हमें अपनी, कांग्रेस-जनों की, कमियाँ तथा कांग्रेस-संगठन की कमजोरियाँ मालूम हो गईं। अपनी स्वाधीनता के अन्तिम संग्राम में कूदने से पहले हम इन्हें दूर कर देंगे। फलस्वरूप हमारी इस स्वाधीनता-संग्राम की योजना मानव-शक्ति सम्भव निर्दोष योजना होगी और ईश्वर ने चाहा तो अपनी सत्य और अहिंसा की शक्ति-प्रदर्शन से ही या

हर हालत में अधिक से अधिक सहज और शीघ्र ही हम अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल होंगे।

१९४२ में हमने देखा कि हमारी राष्ट्रीय महासभा का अन्यथा सुविशाल और शक्तिशाली सङ्गठन हमारे अन्तिम स्वाधीनता-संग्राम के लिए सर्वथा असफल सिद्ध हुआ। हमने यह भी देखा कि अनेक कांग्रेस-जन इस संग्राम के लिए सर्वथा अ तैयार थे। लेखक और उसके साथियों ने जनवरी सन् ४२ से ही अपने प्रान्त के साथी कार्य कर्ताओं से खुल्लमखुल्ला यह कहना शुरू कर दिया था कि निकट भविष्य में स्वाधीनता संग्राम छिड़ सकता है, या देश में वह विकट स्थिति आ सकती है जिसमें शक्ति हमें अपने हाथ में लेनी पड़े। लेकिन निकट से निकट के कांग्रेस-जन तक इसे कोरा गरम प्रचार मात्र समझते थे। ३१ मई १९४२ को प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में इस आशय का प्रस्ताव पास हो जाने पर भी कार्यकर्ताओं की आँखें नहीं खुलीं। इससे भी अधिक कार्यकर्त्री कमेटी में भारत छोड़ो प्रस्ताव पास हो जाने पर और सरदार पटेल, तथा राजेन्द्र बाबू तथा जवाहरलालजी के स्पष्ट तथा स्फूर्ति प्रदायक भाषण हो जाने पर तथा महात्मा गांधी द्वारा 'हरिजन' में अप्रैल से ही बार-बार चेतावनी दिये जाने पर भी कांग्रेस-जन सर्वथा अ-तैयार रहे। वे ९ अगस्त तक यही समझते रहे कि संग्राम-वंग्राम कुछ नहीं होगा, ब्रिटिश सरकार और राष्ट्रीय कांग्रेस से कोई न कोई समझौता हो जायगा। सस्ती सफलता और समझौते की मनोवृत्ति उनमें इतनी घर कर गई थी कि क्रिप्स

मिशन की विफलता से भी उनके सुख-स्वप्नों का ताँता नहीं टूटा।

फल वही हुआ जो होना था। नौ तारीख को अधिकांश कांग्रेस-जन जेलों में बन्द थे। जिनको महात्मा गांधी ने "करो या मरो" का आदेश दिया था उनको भारतीय नौकरशाही ने ऊँघते हुए धर पकड़ा। जो रह गये उनमें से भी काफी बिल्कुल अकर्मण्य साबित हुए। कुछ ने तो 'करो या मरो' के आदेश का पालन अपनी जान बचाने के लिये जेलों में छिप कर किया। जब नेतृत्व और कार्य-क्रम हीन जनता अपने नेता के आदेश पर पौराणिक वीरता का परिचय दे रही थी और अन्धों तथा बहरों को भी यह दिखा रही थी कि तैयारी, सङ्गठन, नेतृत्व और कार्यक्रम होने पर वह सहज ही पराधीनता पाश को तोड़कर फैंक सकती है तब काँग्रेस जन कहाँ थे और क्या कर रहे थे? संयुक्त प्रान्त राजनैतिक चेतना और काँग्रेस के सङ्गठन की दृष्टि से देश के किसी प्रान्त से पीछे नहीं है, १६४१ के सत्याग्रह संग्राम में शेष सारे देश में सत्याग्रहियों की संख्या भी हमारे प्रान्त के सत्याग्रहियों की संख्या से कम थी। फिर भी हमारे प्रान्त के कितने काँग्रेस जनों ने "करो या मरो" के आदेश का पालन किया? प्रान्त में मण्डल कमैटियों को मिलाकर चालीस हजार से ऊपर ही कार्यकारिणियों के मैम्बर होंगे, इनमें से चार हजार से अधिक नज़रबन्द नहीं हुए? बाकी क्या करते रहे? और तो और करो या मरो के आदेशानुसार सत्याग्रह, शुद्ध अहिंसात्मक वैयक्तिक सत्याग्रह भी कितनों ने किया? जेलों में नजरबन्दों की जो दय-

नीय दशा देखी गई उसकी चर्चा आगे की जायगी परन्तु छूटे हुए नजरबन्दों ने जो कुछ किया वह सभी को मालूम है।

जो जेलों में नजरबन्द थे उनमें से भी बहुतेरों की बाबत यह नहीं कहा जा सकता था कि "कौन कहता है जबरदस्ती से हम पकड़े गये। हम को तो हुब्बे बतन ही जेलखाने ले गया।" वे बेचारे पकड़ आये थे और ईमानदारी के साथ यह कहते थे कि हम बेकार ही पकड़े गये। अगर वे न पकड़े जाते तो उनमें से व्यक्तिगत सत्याग्रह कर के जेल आने वाले भी कम ही निकलते। अधिकतर तो यह कह कर अपनी राजनीतिज्ञता का परिचय दिया करते कि यह संग्राम जेल भरने का संग्राम नहीं है!

काँग्रेस-जनों की इस पतित और पराजय-मनोवृत्ति का जैसा कटु निजी अनुभव मुझे इस बार हुआ वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। १९४३ के शुरू तक बरेली सैन्ट्रल जेल में ढाई सौ से ऊपर राजबन्दी हो गये थे। इनमें प्रान्त के अधिकाँश जिलों के लोग थे और उनमें बड़े बड़े योद्धा क्रान्तिकारी, पदाधिकारी एम० एल० ए० अग्रगामी आदि शामिल थे। परन्तु फिर भी कायरता, खालबचाऊ मनोवृत्ति, अनुशासन हीनता, किंकर्तव्यविमूढ़ता और इन सब के साथ एक लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत् की भावना का पूरी और परले सिरे की बेहयाई का साम्राज्य था।

जेल के अधिकारियों का व्यवहार बर्बरता पूर्ण था। सुपरिटैण्डैण्ट उन हिन्दुस्तानियों में से था। जो अपने को 'साहब' समझते हैं। सरकारी काम को वह कितनी ही मुस्तैदी से करे अपनी

क्षमता दिखाने के लिए कैदियों को नङ्गा, भूखा, दुःखी और बीमार रखकर कितनी ही बचत क्यों न दिखावे, कैदियों के प्रति वह अपना केवल एक ही कर्त्तव्य समझता था और वह यह कि वे परेड करते हैं या नहीं ? उसके संसार में मनुष्यों के दो ही वर्ग थे एक कैदी और दूसरा साहब। और साहब का यह अनिवार्य कर्त्तव्य था कि वह हर समय अपने को साहब साबित करता रहे तथा कैदी को उसकी जगह बताता रहे, फिर चाहे, शिक्षा आचार, सामाजिक पद, सामाजिक अवस्था और राज-प्रतिष्ठा तक में वह कैदी साहब से कितना ही उच्च क्यों न हो ? हमारे हीरा साथी बनारस के प्रतिष्ठित कार्यकर्त्ता सेठ खेदनलालजी एम० एल० ए० केन्द्रीय, सुपरिटैण्डैण्ट की इसी नीति से असमायिक काल के ग्रास बने। आई० जी कर्नल शेखके रूपमें सुपरिटैण्डैण्ट को इसी मनोवृत्ति का देवता, मन का देवता मिल गया था और स्लोन तथा हैलट की सरकार की ओर से उन्हें खुलकर खेलने का प्रोत्साहन मिला हुआ था।

डिप्टी सुपरिन्टैण्डैण्ट खाँ साहब अब्दुललतीफ क्रूरता की प्रतिमूर्त्ति थे। वे प्यादे से फर्जी हुए थे इसलिए सदैव टेढ़े ही चलते थे। वे बड़े गर्व के साथ शेखी मारते—मैंने १९३१ में रायबरेली जेल में काँग्रेसियों को खूब पिटवाया और ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के एक मेम्बर के सामने इस बात को यह तस्लीम किया फिर भी मुझे खाँ साहबी इनाम में मिली। रफी अहमद साहब को मैंने उस वक्त दुरुस्त कर दिया था। अब फिर वे मेरे चंगुल में फँसे हैं! मैं यहाँ तुम लोगों को गवर्न करने के लिए हूं। जो हम दें,

वह खाओ। जो हम कहें वह मानो। हमारा हुक्म ही कानून है। और कोई कायदा कानून नहीं। सरकारी कायदों का हम जो अर्थ कर दें वही सही है। हुक्कामों और सरकार को किसी किस्म की अर्जी भी तुम हमारी मर्ज़ी के बिना नहीं भेज सकते। मुझे तुम लोगों को गोली मार देने तक का अख्त्यार है और मुझ से कोई जबाब तक नहीं पूछेगा। मैं डण्डों और जूतों के जोर से सब को ठीक कर सकता हूँ जो चाहूँ सो करा सकता हूँ। कैदियों, लम्बरदारों और जमादारों से वह कहता, "जाओ इन लोगों का घी, दूध, मक्खन, मीठा खूब खाओ। इनकी घड़ियाँ, इनके फाउन्टेनपैन, इनकी चद्दरें आदि चुराओ। कुछ कहें तो इनमें दो हाथ लगाओ। पिट के आये तो सजा दूंगा, पीट कर आओगे तो कोई तुम्हारा कुछ नहीं कर सकेगा। मैं खुश होऊँगा।" अपने इन कथनों के अनुसार उसने आचार्य बीरवलसिंह एम० एल० ए०, की (Harbeas carpus) की अर्जी भेजने से मना कर दिया। जवाहरलालजी के बरेली जेल आने पर उसने यह शेखी मारी कि, "मैंने इनके प्राइवेट सैक्रे-टरी मि० उपाध्याय को इतना पिटवाया था कि उसके दाँत टूट गये।" लेखक को कमीशन के सामने गवाही देते हुए उसने धमकाया।

ये अधिकारी सैकड़ों काँग्रेस जनों को भेड़ों की तरह जिधर चाहते हैं हाँकते। उनका पाँच-पाँच सेर घी प्रतिदिन दुबारा कैदियों के सुपुर्द करते और उन्हें देने से इन्कार करते। उन्हें कम राशन देते। तौलने से इनकार करते। खराब राशन की शिकायत करने

पर मारने की धमकी देते। जनवरी के अन्त में खबरें आने लगीं कि कुछ राज-बन्दियों को पीटा गया। इस पर एकाध सज्जन ने अनशन किया और प्रान्त के एक सुप्रसिद्ध गान्धीवादी नेता से पूछा कि हम क्या करें ? तो उत्तर मिला कि चूँकि हमारी बैरक का मामला नहीं है इसलिए हम कुछ नहीं करेंगे यद्यपि ये महानुभाव केवल बैरक के लोगों के कहने पर सब राजबन्दियों के प्रवक्ता बने हुए थे। गान्धीजी हमें भेद से अभेद की ओर ले जाते हैं। इन्होंने देश में पहले से विद्यमान सैकड़ों भेदों के साथ-साथ बैरक-भेद नया पैदा कर दिया। इसकी प्रतिध्वनि भी हुई। जब इनको बैरक का साथ देने के लिए बाकी सब बैरकों के राजबन्दियों ने सुपरिन्टैन्डैन्ट के परेड के दिन उसके शिष्टाचार में खड़े होना बन्द कर दिया तब जिस बैरक का साथ देने से इन्होंने इनकार कर दिया था वहाँ के अनेक लोग खड़े होते रहे।

फरवरी में मुंशी ऊधौनरायन, बरेली के प्रतिष्ठित तथा वयोवृद्ध कार्यकर्त्ता और उनके ग्यारह साथियों के डंडों-जूतों, लातों और घूसों से पीटे जाने की खबर आई! अब सभी बैरकों के अधिकांश लोगों ने सुपरिन्टेन्डैन्ट के शिष्टाचार में खड़े होना बन्द कर दिया लेकिन जब कभी उपवास का, दो-एक दिन के उपवास का सवाल आया तब कुछ बैरकों के अधिकांश लोग शामिल नहीं हुए। शिष्टाचार में न खड़े होने के मामूली से विरोध के विरुद्ध भी कायर दल ने सङ्गठित षड्यन्त्र प्रारम्भ कर दिया। उन्हें लेखक से यह अब डर था कि कहीं वह

सम्मान रक्षार्थ कड़े पड़ने को न कहे, इसलिए अपनी ओर से अकारण सिद्धान्त बघारा जाने लगा कि जेल में प्रान्तपति के आदेश मानना आवश्यक नहीं है। सन् १९२७ की सूबे की स्वराज-पार्टी के एक ह्विप और वकील साहब हर हालत में साथियों के जूतों से पीटे जाने पर भी पीटने वाले नर-पशुओं को शिष्टाचार दिखाने की वकालत करते। एक पहलवान सरदार जो अपने को कमांडर त्यागी का शिष्य कहते थे स्वराज की तिकड़म के लिए संसार में जो कुछ अच्छा है उस सब को निछावर करते। इनकी बैरक के चुने हुए प्रतिनिधि तथा इनके कहने पर सब बैरकों के प्रतिनिधि माने हुए उपर्युक्त गांधीवादी नेता इनकी ओर से, इनके कहने पर सुपरिन्टेन्डेन्ट से समझौते की बात-चीत करने के लिए गये। सुपरिन्टेन्डेन्ट ने उन्हें पकड़वा कर सज़ा की काली-कोठरी में बन्द कर दिया लेकिन इन लोगों में किसी प्रकार का रोष आना तो दूर इन्होंने अपनी बैरक में यह प्रस्ताव पास किया कि हमें परेट करनी चाहिए।

परन्तु दूसरी बैरकों के बहुत से लोगों की दृढ़ता से बर्बरता का आसन हिल चुका था। समझौते की बात-चीत शुरू हुई। लेखक को भी उनमें शामिल होना पड़ा और वहाँ जाने पर तमाम बैरकों के चुने हुए प्रतिनिधियों के सर्व सम्मत प्रवक्ता का काम करना पड़ा। डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट ने वचन दिया कि अब से सरकारी कायदों पर अमल किया जायगा और ग़ैर-कानूनी मारपीट नहीं होगी। लेकिन लेखक ने कहा कि जब तक इस तरह का आश्वासन सुपरिन्टैन्डैन्ट की ओर से न मिले

तब तक राजबन्दियों को सन्तोप नहीं होगा। इस पर डिप्टी सुपरिन्टैन्डैन्ट ने गीदड़-भवकी दी कि "साहब किसी से नहीं मिलेंगे।" लेखक का मौन उत्तर था कि फिर कैदी भी शिष्टाचार नहीं बर्तेंगे। लेकिन लज्जाजनक आत्म-समर्पण और सम्मानयुक्त समझौते का अन्तर भूल जाने वाले एक एम० एल० ए० बोल उठे "हमें ही साहब से मिला दीजिए कि हम उनके सामने अपनी बात पेश कर सकें।" फलस्वरूप ये लोग साहब के सामने गये और कुर्सी पर बैठे हुए साहब के सामने कैदियों की तरह खड़े रहे और अन्त में साहब द्वारा उपर्युक्त आश्वासन पाकर चले आये। बर्बरों के प्रति शिष्टाचार न दिखाने के न्यूनतम विरोध के विरुद्ध बड़ी-बड़ी दलीलें दी जातीं। कहा जाता, वे चाहे हमें जूतों से पीटें परन्तु हम अपना शिष्टाचार क्यों छोड़ें? तुलसीदासजी यदि जीवित होते तो पतिव्रताओं की अनुपम उपमा पा जाते। दूसरे कहते, हम सुपरिन्टैन्डैन्ट के सामने थोड़े ही खड़े होते हैं, हम तो उसे मैडीकल अफसर मान कर उसके सामने खड़े होते हैं। कुशाग्रबुद्धिता के इस चमत्कार की कौन दाद नहीं देगा?

नौ अगस्त १९४३ के सिलसिले में मुझे अपनी बैरक के कांग्रेसजनों का नया अनुभव हुआ। इस समय हमारी प्रथम श्रेणी के राजबन्दियों की बैरक में चालीस से ऊपर साथी थे। तीन-चार दिन पहले कुछ नवयुवकों ने कहा कि हमारा सबसे बड़ा ऐतिहासिक राष्ट्रीय त्यौहार नौ अगस्त आ रहा है उसे हमें समुचित रूप से मनाना चाहिये। और चूंकि उस दिन संयोग

से सुपरिन्टैन्डैन्ट भी बैरक में आवेगा, इसलिए उसको शिष्टाचार न दिखाकर वर्तमान अवस्था के अनुसार सरल से सरल विधि से नौ अगस्त मना लेना चाहिये। मैंने अपनी स्वीकृति दी और आधे दर्जन से अधिक प्रतिनिधि स्वरूप सज्जनों से परामर्श किया तो उन सब ने भी अपनी सहमति प्रकट की। लेकिन दूसरे ही दिन चख-चख सुनाई देने लगी। कहा गया, सुपरिन्टैन्डैन्ट को शिष्टाचार न दिखाने पर मुकदमा चल सकता है, लाठी चार्ज हो सकता है, गोलियाँ चल सकती हैं। बैरक भर में भय और आतङ्क फैल गया। आम मीटिङ्ग की गई। छः प्रतिनिधि व्यक्तियों से सलाह लेने के लिये मुझे आड़े हाथों लिया गया और ऐसे महान् गम्भीर विषय पर विचार करने के लिए समय चाहिए इसलिए मीटिङ्ग मुल्तवी की गई और जब दुबारा मीटिङ्ग हुई तब उसमें बारह वक्ताओं में से ग्यारह ने शिष्टाचार न दिखाने के प्रस्ताव का विरोध किया। इनमें दो-तीन वे महानुभाव भी थे जो मुझे अपनी सहमति दे चुके थे। दलीलों का दौर-दौरा था—ऐसी-ऐसी दलीलें दी गईं कि भूलाभाई भी दङ्ग रह जायँ। कहा गया, नौ अगस्त हमारा कोई राष्ट्रीय त्यौहार अथवा ऐतिहासिक दिवस ही नहीं है। और दूसरे साहब ने कहा, अगर है भी तो वह नौ ही क्यों हो, आठ क्यों न हो? एक ऐडवोकेट बोले हमें एकता और समझौते से काम करना चाहिये और चूँकि कुछ लोग इस प्रकार नौ अगस्त के मनाये जाने के विरुद्ध हैं इसलिए सब को चाहिए कि उसे न मनावें। एक साहब ने दलील दी, हमने कभी परेड नहीं की, किसी जेल में नहीं की, यहाँ भी नहीं

करनी चाहिए। इसलिए नौ अगस्त को परेड अवश्य करनी चाहिए। दूसरे साहब ने ग़दर और जलियाँवाला बाग़ के जुल्मों से शुरू करके १९४२ के राक्षसी दमन तक की कथा सुनाई और कहा कि इसलिए हमें नौ अगस्त को परेड अवश्य करनी चाहिए। आम राय यह थी कि नौ अगस्त तो मनाया जाय, लेकिन सुपरिन्टैन्डेन्ट के आने पर खड़ा अवश्य हुआ जाय। मैंने अपील की, "कांग्रेस के प्रति अपने कर्त्तव्य को न भूलिए। नौ अगस्त तुलसी-जयन्ती नहीं है जो परेड करके मनाई जा सके! वर्त्तमान अवस्था को देखते हुए काँग्रेस के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए यह लाज़िमी है कि हम इस दिन ब्रिटिश सत्ता के स्थानीय प्रतिनिधि के सामने सर न झुकावें!" मेरी प्रार्थना सर्व सम्मति से स्वीकार हुई। उस दिन सुपरिन्टैन्डैंट के आने पर कोई नहीं खड़ा हुआ। साहब वैरक में थोड़ी दूर आकर वापस चले गये! मुकद्मा, लाठी, गोली चलाना तो दूर उन्होंने किसी से कुछ कहा तक नहीं! काँग्रेसजनों का अपडर सर्वथा काल्पनिक उनकी अपनी पराजय मनोवृत्ति का परिचायक सिद्ध हुआ!

२३ सितम्बर १९४३ को जेल में आई० जी० के चरण पड़े। दूसरी वैरिकों से इत्तिला आई कि वहां सब लोगों ने यहाँ के पशुतापूर्ण व्यवहार के विरोध स्वरूप आई० जी० के आने पर न खड़े होने का निश्चय किया है, आप की वैरक क्या करेगी? वैरक की मीटिंग बुलाई गई। बहुमत से तय हुआ कि हम भी दूसरी वैरकों के साथियों का साथ दें। फलस्वरूप, लगभग

पचास राजबन्दी दुबारा चक्कर की गन्दी और भयानक काल-कोठरियों में ठूँस दिए गये ! इनमें लेखक सहित नौ हमारी बैरक के थे। दूसरी बैरकों के चार-पाँच साथियों को पिटवाया गया। विरोध स्वरूप कोठरियों में बन्द साथियों ने उपवास किया और फिर से सुपरिन्टैन्डैन्ट के शिष्टाचार में न खड़े होने का निश्चय किया। पीटे जाने वाले साथियों में से परिगणित जातियों के एम०एल०ए० लाखनदासजी ने दस-बारह दिन का अनशन भी किया। परन्तु इन सब क्रूरताओं की प्रतिक्रिया हमारी बैरक पर यह हुई कि जो बैरक में रह गये थे उनमें से आधे के लगभग ने परेड करना शुरू कर दिया ! उन्होंने नये विधान की सृष्टि की। ऐसा नया आचार शास्त्र गढ़ डाला, जिससे बौडोगेलियो भी सबक सीख सकता था ! जिस समय आई० जी० बैरक में आये थे, उस समय एक भूतपूर्व काँग्रेसी एम० एल० सी० एडवोकेट और जिला काँग्रेस कमेटी के मन्त्री तथा अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व सदस्य खड़े हुए भी थरथर काँप रहे थे।

चौबीस मई १९४४ को जब हम लोग बाहर सोते थे, पगली हुई। हमसे बन्द होने को कहा गया। सात बजे का समय था। कुछ नहा रहे थे, कुछ खा रहे थे। कुछ टट्टी में थे। कुछ टहल रहे थे। जेलर से कहा गया कि हमें न बन्द किया जाय तो अच्छा है, लेकिन आप डी० एस० से पूँछ आइये, वे न कहें तो हम भीतर चले जावेंगे। इस पर डी० एस० ने आकर कहना शुरू किया "खाना बन्द करो, भीतर चले जाओ, बुलाओ नम्बरदारों को इन्हें ठीक करदें।" अपनी आदत के मुताबिक उसने

और भी अप्रिय तथा अपमानजनक बातें कहीं। लेकिन किसी ने चूँ न की, सब चुप रहे। विवश हो लेखक को डी. एस. से कहना पड़ा कि, 'दो कौड़ी के आदमी, चुप रह या जुबान सम्हाल कर बोल!'

दूसरे दिन श्री रघुकुल तिलक एम० ए० एल० परेड पर छूटे। डी० एस० ने उन्हें न केवल अपमानित ही किया, वल्कि उन्हें धक्कवाया और घसिटवाया भी! इसके विरोध स्वरूप वैरिक में मीटिंग हुई तो यहाँ तक कहा गया कि यह तिलकजी का मामला है, वे बाहर हैं जो मुनासिव समझें करें, हम क्यों उनके पीछे झगड़ा मोल लें? जिस समय तिलकजी के साथ यह सब कुछ हुआ उस समय दो काँग्रेस-जन वहाँ उपस्थित थे। एक लखीमपुर के फारवर्डब्लाकी, दूसरे बरेली के एक वकील! दोनों ने डी० एस० के विरुद्ध सच्ची बात कहने से इनकार किया! जब तक अधिकारी कमसे कम ग़ैर कानूनी मार पीट न करने का दुवारा आश्वासन न दें तब तक उनके साथ शिष्टाचार न दिखाने की सलाह देने के अपराध में मुझे कई वार कड़ी तथा कड़ुवी बातें कहनी और सुनने पड़ीं। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह थी कि हमारे केवल शिष्टाचार के लिए खड़े न होने के विरोधमात्र से अधिकारी घबड़ाते थे! लेकिन 'करो या मरो' का आदेश प्राप्त कांग्रेसजन अपडर से इतने साधारण विरोध के लिए भी तैयार न थे। मेरा निश्चित विश्वास है कि इस विरोध में हमें एकाध महीने की कालकोठरी से अधिक की सजा नहीं मिल सकती थी। थक कर अधि-

कारियों ने वह भी बन्द कर दी थी। यदि हम शान्ति, दृढ़ता और अनुशासन के साथ इस पर डटे रहते तो हमारी विजय निश्चित थी। लेकिन स्वाधीनता-संग्राम के शूरवीर सैनिकों का कहना था कि हर इक्कीसवें दिन हमारा दिल घबड़ाता है। एक साहब ने कहा कि हम जानते हैं कि सुपरिन्टैन्डैन्ट कभी हमारी बात नहीं सुनता, लेकिन हमें उनसे बात करके सन्तोष हो जाता है।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त चित्र का केवल एक पहलू और काला पहलू है। सब कांग्रेसजन ऐसे न थे। पर्याप्त संख्या प्रकृत वीरों की थी। सी क्लास मे सजा भोगनेवाले नवयुवकों ने इसी जेल में आदर्श वीरता का परिचय दिया। विशेष अदालतों की आर्डीनैंस के रद होने पर जब दस-दस बरस की लम्बी सजाओं के विरुद्ध उन्हें अपील करने का अधिकार मिला, तो एक नवयुवक ने कहा कि हम अपील नहीं करेंगे। हम तो इस बात से लज्जित हैं कि महात्माजी का 'करो या मरो' का आदेश होते हुए भी हम अभी तक जीवित हैं। परन्तु इस बात से भी आँखें मूँदना आत्मघातक होगा कि कांग्रेजनों में कायरों की पर्याप्त मात्रा है। जब इन महानुभावों से मैं यह प्रार्थना करता कि "जब महात्माजी यह आदेश देते थे कि केवल स्वास्थ्य और आत्म-सम्मान की बात को छोड़ कर और सब बातों में जेल के नियमों तथा अनुशासन को मानो तब आप उन्हें प्रतिगामी कहते थे लेकिन आज आप जूतों से पीटे जाने पर भी चूँ तक नहीं करना चाहते" तब वे बुरी तरह कुढ़ते थे।

बरेली केन्द्रीय जेल के मेरे ये अनुभव स्थानीय या तित्तर-बित्तर नहीं, यह महामारी सर्व व्यापी है। बाहर छूटे हुए कांग्रेस-जनों में वह स्पष्ट प्रदर्शित होती थी! गोपीनाथ श्रीवास्तव सरकार को किस प्रकार का पत्र लिख कर जेल से छूटे और जेल से छूट कर उन्होंने क्या-क्या किया, किस प्रकार १९४३ में ही समस्त काँग्रेस और कांग्रेस कार्यकर्त्री कमेटी तथा महात्मा गाँधी के साथ विश्वासघात करने के लिए अगस्त प्रस्ताव को छूटे हुए या न पकड़े गए अखिल भारतवर्षीय काँग्रेस कमेटी के सदस्यों द्वारा रद्द कराने का प्रयत्न किया यह किसे नहीं मालूम? फिर बाबू श्रीप्रकाश के साथ काँग्रेस एसैम्बली से इस्तैफा देकर दोनों ने किस प्रकार कांग्रेस को तिरस्कृत किया यह भी सब को मालूम है। बाबू श्रीप्रकाश ने कॉंग्रेस के प्रतिष्ठित पद सूबा काँग्रेस कमेटी के एक मन्त्री के पद के साथ दगा करने वाले डाक्टर जैड० ए० अहमद के साथ मित्रता का ही नहीं डायर और ओडायर से भी अधिक दमन करने वाले मूडी के साथ मित्रता पर जो गर्व प्रकट किया उसे कैसे भुलाया जा सकता है? और उन्होंने बार-बार मौके बे मौके जेल जाना ही कांग्रेस जन का काम नहीं है इस महामन्त्र का जप कर के अपने जेलों में बन्द और फाँसी तथा गोली का शिकार होने वाले साथियों के हृदयों को जो सुख पहुँचाया, उसे वे कैसे भूल सकते हैं? बाबू सम्पूर्णानन्द जिस तत्परता के साथ गवर्नर की बुलाई हुई बेकायदा परिषद् में सम्मिलित हुये वह क्या हमारी कमजोरियों का परिचायक नहीं है?

यह कमजोरियाँ पहले ही दृष्टि-गोचर होने लगी थीं। कांग्रेसी

मन्त्रि-मंडल के समय और उसके बाद भी जो लोग फारवर्ड-ब्लाकी बनते थे तथा ऐसे भाषण देते थे कि मानो अगर प्रतिगामी गाँधी न रोके तो ये तुरन्त ही आगरा के लाल किले पर लाल झंडा फहरा देंगे, उन्होंने फारवर्ड ब्लाक द्वारा सत्याग्रह शुरू होते ही भगवा वस्त्र पहन लिये। १६४०-४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह में यद्यपि संसार के सामने हमारे प्रान्त का यह पहलू आया कि आधे से अधिक सत्याग्रही केवल हमारे प्रान्त के थे तथापि प्रान्तीय कार्यकर्त्ताओं से यह पहलू भी नहीं छिपा है कि मंडलों इत्यादि की कार्यकारिणी के जिन पचास हजार के लगभग सदस्यों को सत्याग्रह करने का आदेश दिया गया था उनमें से मुश्किल से एक चौथाई ने सत्याग्रह किया। १६४३ की २६ जनवरी को जब अपने को भूतपूर्व आतङ्कवादी, क्राँतिकारी, अग्रगामी वामपन्थी, समाजवादी तक कहने वाले सानन्द युद्ध के ठेके से धन कमा रहे थे। तब तेरह बरस की अबोध बालिका और उस समय तक परदे में रहने वाली एक कुल बधू ने सूबे के एक बड़े शहर की लाज रक्खी और डेढ़ बरस सी क्लास में काटी?

१६४०-४१ में ही काँग्रेस जनों में सदैव समझौते और छूट की आशा की मनोवृत्ति ने घर कर लिया था। हर समय अब छूटे और तब छूटे की चर्चा हर वक्त फाटक की तरफ अखबारों की तरफ निगाह पत्रे जन्मकुण्डली सामुद्रिक, ज्योतिषी सब से सहायता ली जाती थी और ए श्रेणी के राजनैतिक बन्दी उचित अनुचित का विचार छोड़ कर अधिक से अधिक छूट पाने के लिए भरसक प्रयत्न करते थे। हर हालत में समझौते की मनोवृत्ति,

ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके सब से बुरा प्रतीक चर्चहिल तक से पूर्ण स्वाधीनता दान में पाने की मनोवृत्ति काँग्रेस कार्यकर्त्री कमेटी तक जा पहुँची थी और वह डाक्टर सैय्यद महमूद के पत्र के रूप में संसार के सामने आई यह भी सब को मालूम है। इससे स्पष्ट है कि प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता के कारण कार्यकर्त्री कमेटी तक में खोटी भरती करनी पड़ती है।

पराजय की इस मनोवृत्ति का जन्म १९३२-३३ में ही हो चुका था। अपने को उग्र और क्रान्तिकारी समझने वाले बहुत से काँग्रेस-जन उस प्रथम प्रदर्शनात्मक सत्याग्रह-संग्राम से तुरन्त ही पूर्ण स्वराज न मिलते देख कर नये नेता और नये कार्य-क्रम की तलाश करने लग गये थे। वे समझते थे कि गान्धीजी और कांग्रेस को कार्यकर्त्री कमेटी प्रतिगामी हैं, उनका कार्य-क्रम बेकार का धार्मिक अनुष्ठान। इसलिये हमें नये कार्य-क्रम और नवीन विचार-धारा को अपनाना चाहिए। इसी मनो-वृत्ति के फलस्वरूप १९३४ में कांग्रेस-समाजवादी दल का जन्म हुआ और बाद को कम्यूनिस्ट आदि अनेक वाम-पक्षी-दल मैदान में आये। कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों के समय देश, दलों का दल-दल बना हुआ था। कार्य-कर्त्री कमेटी तक में विचारावली और आदर्शों की विभिन्नता का साम्राज्य था।

जिस समय ये दल स्थापित हुए उस समय जवाहरलालजी का विचार था कि इससे देश में राजनैतिक चेतना बढ़ेगी तथा जन-जागरण से कांग्रेस की, प्रगतिशीलों की, साम्राज्यवाद

विरोधियों की, स्वाधीनता-संग्राम के सैनिकों की शक्ति बढ़ेगी और कुछ हद तक इस उद्देश की पूर्त्ति भी हुई।

परन्तु लेखक को शुरू से ही यह भय था कि कांग्रेस के भीतर अनेक दल कायम करने से जितनी हानि होगी उतना लाभ नहीं। उसने जनवरी १६३४ में आनन्द-भवन में सूबे की कार्यकारिणी के मेम्बरों तथा बाबू जयप्रकाशनरायण की मौजूदगी में जो अनियमित मीटिङ्ग हुई थी उसमें यह कहा था कि जवाहरलालजी का समाजवादी कार्य-क्रम और गान्धीवादी नीति का मिश्रित कार्य-क्रम कारगर नहीं हानिकर सिद्ध होगा। समाजवादी कार्य-क्रम से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा कमज़ोर पड़ जायगा और क्रान्तिकारी साहित्य के मुद्रण तथा प्रकाशन एवं क्रान्ति प्रचारक, सञ्चालक और संगठन-कर्त्ता कार्यकर्त्ताओं के दल की शास्त्रीय-शिक्षा का गुप्त प्रबन्ध न होने पर क्रान्ति की, अहिंसात्मक-क्रान्ति की तैयारी और सङ्गठन का काम सुचारु रूप से नहीं हो सकेगा। १६४२ के तूफान ने लेखक के इस कथन की सत्यता को प्रत्यक्ष कर दिया। लेखक का कहना था कि गान्धीवादी कार्य-क्रम भारत का सर्वोत्तम साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मोर्चा है और व्यावहारिक ढङ्ग से अहिंसात्मक क्रान्ति की तैयारी और सङ्गठन का काम किया जाय तो सफलता निश्चित है। परन्तु उस समय जो लोग गान्धीजी के नेतृत्व और कार्य-क्रम में विश्वास खो बैठे थे, वे यहाँ तक आशावादी थे कि मार्क्स के कथन के विरुद्ध भारत में राष्ट्रीय स्वाधीनता से पहले ही, समाजवादी

क्रान्ति सम्भव है। लेखक ने यह भी कहा था कि समाजवादी विचारों के प्रचार के लिए अलग दल कायम किया जाय, राष्ट्रीय महासभा के भीतर अनेक राजनैतिक दल स्थापित करके उसे छिन्न-भिन्न न किया जाय, परन्तु उसकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज़ साबित हुई।

इस दलबन्दी के दो दुष्परिणाम यह हुए कि श्रद्धा और अनुशासन के जिन दो पहियों पर कांग्रेस का प्रगति-रथ चलता था वे दोनों चकनाचूर हो गये। दलों की चढ़ा-ऊपरी में उच्छृङ्खल तथा अवांछनीय अनुशासन-हीन व्यक्तियों की बन आई। यदि उन पर अनुशासन की कार्यवाही करने का प्रयत्न किया जाता तो वे झट दूसरे दल में जा मिलते। बहुमत बनाने की फिक्र में प्रत्येक दल को उनका पक्ष लेना पड़ता और जब कांग्रेस वाद-विवाद तथा वितण्डा का रङ्गमञ्च बन गई हो, तब श्रद्धा और विश्वास का सवाल ही नहीं रहता था। जनता नेतृत्व के लिए कांग्रेस की ओर देखती थी परन्तु उसे पथ-प्रदर्शन के बदले शास्त्रार्थों का शिकार होना पड़ता था। विभाजित नेतृत्व से कार्यकर्त्ताओं में किंकर्तव्य विमूढ़ता आई और कार्यकर्त्ताओं की किंकर्त्तव्य विमूढ़ता ने जनता के हृदय से काँग्रेस के कार्यक्रम के प्रति श्रद्धा मार भगाई। सर्व साधारण में काँग्रेस के निश्चित और स्वीकृत अधिकारी कार्य-क्रम का प्रचार करने के लिये जो कान्फ्रेंसें की जातो उनमें अजीब छीछालेदर होती। ज्यों ही उसमें अधिकारी कार्यक्रम का समर्थक प्रस्ताव पेश होता त्यों हीं तरमीमों का ताँता लग जाता। कोई काँग्रेस समाज वादी कामरेड कहते "यह

कार्यक्रम बिल्कुल बेकार है असली कार्यक्रम अखिल भारतीय काँग्रेस समाजवादी दल का कार्यक्रम है।" उनके बैठते ही कम्यूनिस्ट उठ खड़े होते। ये दोनों बेकार हैं असली सिक्का सोवियत रूस का स्टालिन का सिक्का है। रायवादी फरमाते ये तीनों बकते हैं गाँधी के नेतृत्व की जगह तो कामरेड एम० एन० राय ही ले सकते हैं। इसी तरह किसान सभाइ फारवर्ड ब्लाकी ट्राटस्कीवादी लोग भी अपनी-अपनी बात कहते। ऐसो दशा में एकत्र जन-समूह के मन और हृदय पर क्या असर पड़ता होगा इसकी कल्पना पाठक स्वयं सहज ही कर सकते हैं। काँग्रेस को स्वीकृत अधिकारी कार्यक्रम का तो नाम भी सर्वसाधारण को याद नहीं रह सकता था।

कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल के समय काँग्रेस-जनों, अग्रगामी काँग्रेसजनों की बाढ़ सी आई थी। उस बाढ़ में अमन-सभाई पूँजीपति, समाजवादी सेठ हो गये थे। उनके फोटो व सन्देश समाजवादी पत्रों के मुख-पृष्ठ पर छपते थे। राजा बहादुर कुशलपालसिंह के सगे छोटे भाई इतने बड़े अग्रगामी थे कि वे वामपक्षी ब्लाक की ओर से रामचन्द्र पालीवाल एम० एल० ए० के विरुद्ध कांग्रेस की डेलीगेट-शिप के उम्मेदवार खड़े किये गये थे। बालकृष्ण शर्मा को छोड़ कर श्रीरत्न शुक्ल एसैम्बली की सदस्यता के लिए खड़े किये गये थे। अपने को समाजवादी कहना, मूँछें सफाचट रखना और क्रमशः इङ्गलैण्ड, अमेरिका या रूस में शिक्षा पा आना या वहाँ हज कर आना, ऐसे अव्यर्थ गुण थे कि जिनके लिए नेतृत्व तथा अखिल भारतवर्षीय

कांग्रेस कमेटी के दफ्तर का दरवाजा सदैव खुला रहता था। डाक्टर अशरफ और कामरेड एम० एन० राय इसी मनोवृत्ति की देन हैं। नेताओं का यह हाल था कि वे इस बात के लिए लालायित रहते थे कि कोई उनसे वक्तव्य और सन्देश माँगे और किसी कान्फ्रेन्स का सभापति होने के लिए कहे। १६४२ के के प्रथमार्ध तक सोवियत सुहृद कान्फ्रेन्सों के लिए ही नहीं १६४४ तक कम्यूनिस्टों की कान्फ्रेन्सों के लिए भी वक्तव्य तथा सन्देशादि भेजने के लिए नेताओं के पास सदैव सुपास रहता था। वादों और वितण्डा को स्वस्थ मत-भेदों का तथा वैयक्तिक गुट-बन्दी को राजनैतिक जीवन के चिन्हों के नाम से पुकारा जाता था।

हमारे नेताओं की मनोवृत्ति लिबरलों की सी हो गई थी। अन्तर केवल इतना था कि लिबरल ब्रिटिश लिबरलों के लोकमत के बल पर स्वराज्य की आशा करते थे, हमारे अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत के बल पर। अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत का, रूस और अमेरिका के लोकमत का उन्हें जितना ध्यान था उतना अपने देश के साम्राज्यवाद विरोधी लोकमत का नहीं। ब्रिटिश जन-मत के सामने अपने पक्ष की स्थिति साफ करने के लिए वे भारतीय जन-मत को ठेस पहुंचाने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। सूबे की कार्यकारिणी की बैठकों और कान्फ्रेन्सों की विषय-निर्धारिणी समितिओं में दो-दो दिन चीन, स्पेन, फिलस्तीन की समस्याओं पर विचार करते हुए गुजर जाते और अन्त में कुछ समय बेचारे भारत और प्रान्त को मिलता। समस्त शक्ति

अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने में व्यय की जाती। स्वदेशी समस्याओं, स्वदेशी संस्थाओं तथा स्वदेशी साधनों की सर्वथा उपेक्षा की जाती। इस अन्तर्राष्ट्रीय फासिस्ट-विरोध का एक घातक परिणाम यह हुआ कि विद्यमान विश्वव्यापी महा-युद्ध के शुरू होने पर, बावजूद कई बरस के कांग्रेसी प्रस्तावों के देश उसका विरोध करने के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी तैयार न था। सन् १९३६ में राष्ट्रपति के पद से जिन पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने यह घोषणा की थी कि:—

"साम्राज्यवादी राष्ट्रों में जितने युद्ध होंगे, वे सब साम्राज्यवादी युद्ध होंगे। फिर चाहे उसके सम्बन्ध के कुछ भी बहाने क्यों न किये जायँ? हमें हर हालत में उससे अलग रहना चाहिये।" वे ही जवाहरलालजी यह कहते फिरते थे कि यह कहना कठिन है कि यह युद्ध लोक-युद्ध है या साम्राज्य-वादी युद्ध। उन्हीं जवाहरलालजी के वक्तव्यों के आधार पर भारत-मन्त्री अमेरी यह कहते कि हिन्दुस्तान युद्ध में हमारे साथ है तथा उन्हीं जवाहरलाल के भाषण के अंश छाप कर सरकारी-प्रकाशन-विभाग युद्ध में सहायता करने की अपील करने वाले पोस्टर चिपकाते थे। युद्ध के सम्बन्ध में जवाहरलालजी की हैमलैट जैसी मनोवृत्ति से ही जनता सुभाष बाबू की ओर झुकी। उसी मनोवृत्ति के बल पर एम० एन० राय ने अपने अतीत और भविष्य को तथा अपने क्षुद्र-संगठन को भारतीय सरकार के हाथ बेचा और कम्यूनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस के प्रति भारी विश्वासघात किया। इसी मनोवृत्ति के बल पर

देश-द्रोही कम्यूनिस्ट-पार्टी खुल्लम-खुल्ला यह कहती है कि जवाहरलालजी के छूटने पर कांग्रेस-जन हमें काँगरेस से नहीं निकाल सकेंगे।

इसी मनोवृत्ति के कारण हिन्दुस्तान के गवर्नर तक हम से यह पूछने का साहस करते थे कि जब आप नात्सीवाद के विरोधी हैं तो फिर युद्ध में हमारी सहायता क्यों नहीं करते? सच बात यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीयता के फेर में पड़ कर हम युद्ध विरोधी होने के बजाय फासिस्ट-विरोधी अधिक हो गये थे। १६४०-१६४१ के वैयक्तिक सत्याग्रह की सारी शक्ति इसी धारणा को दूर करने में व्यय हुई। १६४१ के अन्त तक इस मनोवृत्ति ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा। उस साल के अन्त में कार्यकर्त्री कमेटी का बारदोली वाला लज्जा-जनक प्रस्ताव इसी मनोवृत्ति का कुफल था और देश में, कांग्रेस में, उस प्रस्ताव के विरुद्ध इतना रोष था कि जनवरी १६४२ में वर्धा में होने वाली अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में यदि महात्मा गान्धी यह अपील न करें कि मेरे विचारों के लोग इस प्रस्ताव के विरुद्ध वोट न दें, निष्पक्ष रहें और यदि उनके निष्पक्ष रहने से भी यह प्रस्ताव स्वीकृत न हो तो वे इसके पक्ष में वोट दें तो वह प्रस्ताव भारी बहुमत से गिर जाता।

कांग्रेस और कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं की ये कमियाँ तथा कमजोरियाँ महात्मा जी से छिपी नहीं थी। उन्होंने अनेक बार उन पर दुःख प्रकट किया था। अनेक बार देशवासियों को उनसे आगाह किया था। एक बार उन्होंने लिखा था कि, "अब कांग्रेस

राष्ट्र-व्यापी सत्याग्रह छेड़ने का कारण Vehicle यन्त्र नहीं रही। वह बहुत बड़ी हो गई है। उसमें भ्रष्टता प्रविष्ट हो चुकी है। कांग्रेस जनों में अनुशासन-हीनता तथा दल बन्दी भी आ गई है। अधिकाँश कांग्रेसजनों को कांग्रेस के कार्यक्रम में जीवित श्रद्धा नहीं है। कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों के कार्यों में गवर्नरों ने उतनी कष्ट-प्रद दस्तन्दाज़ी नहीं की कि जितनी कांग्रेस और कांग्रेस-जनों ने की।" महात्माजी का यह कथन यहाँ तक सच निकला कि १९४२ में नौ अगस्त के अति प्रातः से भी पहले जिस बिड़ला हाउस में महात्मा गान्धी के गिरफ्तार किये जाने का सम्मान प्राप्त हुआ था उसी ने अपने में दूसरे ही दिन कांग्रेसजनों का प्रवेश निषिद्ध करके अपने को राष्ट्रीय घृणा का पात्र बना लिया।

समाचार-पत्र देश के गौरव और पथ-प्रदर्शक होते हैं। परन्तु क्या १९४२ के सत्याग्रह-संग्राम में उन्होंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया? जब १९४१ में ही "नेशनल हैरल्ड" तक ने महात्मा गान्धी का वक्तव्य छापने तक का साहस नहीं दिखाया तब १९४२ में हम औरों से क्या आशा कर सकते थे? बड़े से बड़े क्रान्तिकारी पत्र सब प्रकार के बन्धनों के सामने सर झुकाकर युद्ध के ठेकेदारों की तरह सरकारी खबरें बेचने तथा युद्ध समर्थक विज्ञापन छापकर सानन्द पैसा कमाते रहे। नज़र बन्दों पर होने वाले राक्षसी अत्याचारों की खबरें छापने का साहस तो इनमें आता ही कहाँ से। उनकी सुविधा के लिए मानवी नियम बनवाने के लिए भी इन्होंने कभी कुछ नहीं लिखा। कभी यह भी नहीं लिखा कि अगस्त १९४२ के

पहिले तक राजबन्दियों को जो सुविधाएँ प्राप्त थीं वे उन्हें क्यों नहीं वापस दी जातीं? १६४५ में आगरा डिस्ट्रिक्ट जेल में किसी माई के लाल नौजवान को १६४२ के सत्याग्रह-संगठन के सिलसिले में फाँसी हुई। आगरा के स्थानीय 'अखबारों' में सिर्फ इतनी खबर निकली कि पूर्वी जिले के किसी कायस्थ नवयुवक को राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्बन्ध में फाँसी दी गई! इस माई के लाल का नाम जानने और छापने की इन पत्रों ने कोई आवश्यकता नहीं समझी। देश के किसी दूसरे पत्र में तो इतनी भी खबर नहीं छपी। बिड़लाजी और देवदास गान्धी के 'हिन्दुस्तान टाइम्स', बात-बात में अपना विज्ञापन करने वाली 'अमृत बाजार पत्रिका' और अमरशहीद गणेश-शङ्कर विद्यार्थी के 'प्रताप' तथा समूची काँगरेस ऐसेम्बली के होते हुए यह राष्ट्रीय अनाचार किस देशभक्त के हृदय में शूल की तरह नहीं खटकेगा? छूट हुए कांग्रेस जनों का एसेम्बली में १६४२ के शहीदों की स्मृति और उनके प्रति सम्मान का प्रस्ताव कभी नहीं पेश हुआ। अखिल भारतवर्षीय पत्रकार-सम्मेलनों में जितनी आत्म-प्रशंसा की जाती है उसको देखते हुए तो यह घटना और भी अधिक शोचनीय हो जाती है। उनके प्रस्तावों में भी जितनी चर्चा पत्रकारों के वेतन की होती है पत्रकारों के उच्चादर्शों और पवित्र कर्त्तव्यों की, उसकी दशाँश भी नहीं! कुछ अपवादों को छोड़ कर अन्तिम स्वाधीनता संग्राम के लिए देश के पत्र सर्वथा अप्रस्तुत प्रतीत होते हैं।

आज काँग्रेस में दो दल स्पष्ट मालूम होते हैं। पानी और दूध,

भुन और गेहूँ अलग-अलग मालूम होता है। सैन्ट्रल जेल बरेली में सितम्बर ४३ में दोनों दलों के प्रतीकों की परीक्षा हुई। बदायूँ के एक महाशय और कानपुर के श्री रामनरायन जौहरी हम लोगों के पास कोठरियों में ले जाये गये। रास्ते में वे डिप्टी सुपरिन्टेन्डेण्ट के सामने पेश किये गये। बदायूँ के महाशय को लक्ष्य करके डिप्पी ने कहा, 'आहा मेंढ़की को भी जुकाम हुआ ?' महाशय जी, बोले "हुजूर मैंने तो परेड की थी। दरियाफ्त कर लीजिये।" जबाब मिला, इस समय तो आप काल कोठरी काटिये, बाद को दरियाफ्त कर लिया जायगा!" इनके बाद उस डिप्टी ने श्री रामनरायन जौहरी से कहा, "आपने परेड नहीं की थी। "पक्के. इन्हें गरम कर दो।" जब पक्के ने चार छः डण्डे लगा दिये तब कहा, "बोलो परेड करोगे कि नहीं ?" जौहरी ने कड़क के जबाब कि अब तो परेड न करने का कारण और भी बढ़ गया। इसके बाद डिप्टी ने उन्हें दो बार पिटवाया। दोनों बार, पूँछे जाने पर उन्होंने यही जबाब दिया कि जितना ज्यादा जुल्म मेरे ऊपर होता है उतने ही अधिक कारण परेड न करने के बढ़ते जाते हैं। डिप्टी ने झक मार कर उन्हें कोठरी भेज दिया।

अब कांग्रेस में इन दो दलों में से एक ही रह सकता है। अब कांग्रेस की, आत्म-शुद्धि अनिवार्य हो गई है। यदि कांग्रेस को हमारे अन्तिम स्वाधीनता संग्राम का कारगर हथियार बनना है तो उसमें से निर्भय होकर उन सब लोगों को निकालदेना होगा जो वैधानिक दाँव पेचों और स्वार्थ लिप्सा को ही राजनीति का

नीति का सर्वस्व समझते हैं तथा जो पार्लियामेन्टरी मनोवृत्ति और पराजय तथा पलायन की मनोवृत्ति पर गर्व अनुभव करते हैं। गोपीनाथ श्रीवास्तवों की पुरानी कांग्रेस मर गई। १९४२ के शहीदों के खून से आत्म-बलिदानी राजनरायन मिश्राओं की नई कांग्रेस का जन्म हुआ है। १९४२ के स्वाधीनता संगठन का हमारे लिए एक ही सन्देश है—"पुरानी कांग्रेस मर गई, नई कांग्रेस जिंदाबाद।"

विरोधियों को मुँहतोड़

ज्यों-ज्यों कांग्रेस की शक्ति बढ़ती जाती है, ज्यों-ज्यों वह विजय और स्वाधीनता के निकट अधिकाधिक पहुँचती ज.ती है त्यों-त्यों भारत के शासकों और शोषकों तथा उनके साथियों और पिछलगुओं का, एक शब्द में भारतीय स्वाधीनता के शत्रुओं का विरोध भी प्रचण्ड तथा कटुतम होता जाता है। व कहते हैं कांग्रेस केवल एक पार्टी है वह समस्त भारत की प्रतिनिधि नहीं, वह केवल हिन्दुओं की संस्था है। वह सत्रग्राही, सर्वाधिकार सम्पन्न संस्था है जिसने अपने सदस्यों की समस्त स्वाधीनता अपहरण कर ली है। वह दवाब और आतङ्क से काम लेती है। वह अपने लिए, केवल अपने लिए स्वराज्य चाहती है। समस्त शक्ति को वह स्वयम हड़प जाना चाहती है। वह किसी प्रकार के विरोध और मत-भेद को सहन करने के लिए तैयार नहीं है। वह फासिस्ट और प्रतिक्रियावादी है। अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में संकुचित राष्ट्रीयता की हामी है। अल्पमतों तथा विभिन्न प्रांतों को सांस्कृतिक स्वाधीनता-पूर्ण स्वाधीनता, आत्म-निर्णय का अधिकार देश से अलग और स्वतन्त्र होने का अधिकार देने को तैयार नहीं है। वह भारतीय पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली है। उसे भारत के गरीबों और शोषितों के जनसाधारण के हितों का ध्यान नहीं है। वह केवल तेरह फी सदी वोटरों की प्रतिनिधि है। व्यवस्थापिका सभाओं में उसके

उम्मेदवार वास्तव में स्त्री-पुरुषों के वोटों द्वारा नहीं चुने गये।

ये हैं वे आक्षेप जो ब्रिटिश-शासक-वर्ग के प्रवक्ता सर जेम्स ग्रिग और प्रोफेसर कूपलैण्ड से लेकर मि० जिन्ना, कम्यूनिस्ट और कामरेड एम० एन० राय तक हमारी राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस पर करते हैं। अन्तिम स्वाधीनता संग्राम में विजय सुलभ करने के लिए शत्रुओं के इन प्रचार प्रहारों का निराकरण स्पष्टतः आवश्यक है। सब से पहले एम० एन० राय और कम्यूनिस्टों को लीजिये। एम० एन० राय का यह दावा कि कांग्रेस केवल तेरह फीसदी वोटरों की प्रतिनिधि है और बाकी सतासी फीसदी के नेता वे हैं मूर्खता और धूर्तत्तापूर्ण धृष्टता के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह कौन नहीं जानता कि हिन्दुस्तान की राजनीति में एम० एन० राय के जन्म से कहीं पहले से कांग्रेस बालिग मताधिकार की माँग करती आई है और यदि देश में अभी तक बालिग मताधिकार नहीं हुआ तो इसलिए नहीं कि कांग्रेस उसे नहीं चाहती बल्कि इसलिए कि जिस ब्रिटिश साम्राज्यशाही और भारतीय नौकरशाही के हाथों एम. एन. राय ने अपने को बेच दिया उसने इस डर से बालिग मताधिकार की माँग स्वीकार नहीं की क्योंकि वह जानते हैं कि मताधिकार जितना ही व्यापक होगा कांग्रेस की शक्ति उतनी ही बढ़ेगी। हिन्दुस्तान की व्यवस्थापिका सभाओं के १९३६-३७ के चुनाव इस बात के साक्षी हैं कि जहाँ अपेक्षाकृत व्यापक मता-धिकार वाली जन-व्यवस्थापिका सभाओं, एसेम्बलियों में कांग्रेस को लगभग पूर्ण सफलता मिली वहाँ संकुचित मताधिकार वाली

धनी वर्गों की कौन्सिलों और कौंसिल आफ स्टेट में उससे कहीं कम सफलता मिली। इससे यह भी स्पष्ट है कि कांग्रेस पूँजी-पति-वर्ग की कठपुतली नहीं—प्रत्युत पूँजीपति-वर्ग, कांगरेस से सङ्कीर्ण और विरोधी है। यह सही है कि कुछ राष्ट्रीय-भावना सम्पन्न पूँजीपति कांग्रेस की सहायता करते हैं और प्रबुद्ध तथा चैतन्य पूँजीपतियों का समुदाय राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम में कांग्रेस से खुल्लमखुल्ला सहानुभूति रखता है, लेकिन क्या इतने से ही कांग्रेस पूँजीपति-वर्ग की कठपुतली हो गई? स्वयं मार्क्स और लैनिन का यह कहना है कि पराधीन देशों के स्वाधीनता-संग्रामों में बुरजिओई वर्ग, साथी तथा सहायक होता है। स्टालिन ने १९१७ में रूस की क्रान्ति की सफलता के कारणों का विश्लेषण करते हुए दो-चार कारण बताये थे उनमें से एक जारशाही के खिलाफ रूस के पूँजीपति-वर्ग की सहायता तथा दूसरा आङ्गल-फ्रांस, राजस्व-पूँजी की मदद था तो क्या इससे रूस की राज्यक्रान्ति इन वर्गों के हाथ की कठपुतली हो गई थी। जगत् प्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार लुई फिशर ने अपनी "महात्मा गांधी के साथ एक सप्ताह" नाम की पत्रिका में लिखा है कि महात्मा गान्धी बिना हर्जाने के किसानों द्वारा जमीदारियाँ बाँट लिये जाने के पक्ष में है, यह भी भारतीय राजनीति के प्रत्येक विद्यार्थी को मालूम है कि महात्मा गांधी देश के गरीब से गरीब और अमीर से अमीर की वैयक्तिक आमदनी में गुने से अधिक अन्तर के विरोधी हैं, बाबू जयप्रकाशनरायण के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये समस्त बड़े

कारखानों, कुञ्जीभूत और आधारभूत धन्धों तथा बैङ्कों-बीमा कम्पनियों आदि के राष्ट्रीयकरण किये जाने के पक्ष में हैं। फिर भी यदि उन्हें और कांग्रेस को पूँजीपतियों की कठपुतली कहा जाय तो उसे धूर्त्ततापूर्ण धृष्टता के अतिरिक्त और क्या कहा जाय ? रहा, जन-साधारण में लोक प्रियता का प्रश्न, सो संसार में क्या कोई ऐसा भी 'मूढ़" है जो यह नहीं जानता कि भारतीय किसानों, मजदूरों और जन-साधारण में गांधी और जवाहर का जितना प्रभाव है किसी दूसरे का उसका शतांश भी नहीं। क्या हिन्दुस्तान के किसी भी जिले में कोई बड़े से बड़ा कामरेड नेता साधारण से साधारण कांगरेसी कार्यकर्त्ता के विरुद्ध आम चुनाव-क्षेत्र में खड़ा होकर अपनी ज़मानत ज़ब्त होने से बचा सकता है? महात्मा गान्धी ने देश के गरीबों के लिए, किसानों और मज़दूरों के लिये, जन-साधारण के लिये जितना किया है क्या उसका शतांश भी किसी व्यक्ति तो दूर काँग्रेसेतर किसी दूसरी संस्था ने किया है ? चम्पारन, खेड़ा, बोरसद, वारदोली, आन्ध्र आदि के किसानों का त्राण किसने किया था ? काँग्रेस के कट्टर से कट्टर शत्रु कम्यूनिस्ट ख्वाजा अहमद अब्बास और प्रो० कूपलैण्ड तक मुक्तकण्ठ से इस बात को स्वीकार करते हैं कि काँग्रेस ने जमीदारों और मिल-मालिकों के हितों को निछावर करके किसानों और मजदूरों के लिये हितकारी तथा लाभप्रद कानून बनाये। ब्रिटिश साम्राज्य-शाही के हाथ बिके हुए······जैसे ब्रिटश मजदूर दल के दो चार नेता कामरेड एम-एन-राय के सुर में सुर मिलाकर चाहे जो

कुछ कहें, सारा संसार यह जानता है कि हमारी राष्ट्रीय महा-सभा काँग्रेस ने पराधीनता की अवस्था में भी, शासन-शक्ति हाथ में न होते हुये भी, देश के जन साधारण का, किसानों और मज-दूरों का जितना आर्थिक और राजनैतिक लाभ कर दिखाया है उतना संसार के इतिहास में पराधीन देशों की स्वाधीनता के लिये लड़ने वाली किसी संस्था ने शायद ही कर पाया हो।

काँग्रेसी और ग़ैर-काँग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों का मुकाबिला कीजिये। समय समय पर सिन्ध, सरहद्दी प्रान्त, आसाम, उड़ीसा बङ्गाल और पञ्जाब में ग़ैर काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल रहे। इनमें से सिन्ध, सरहद्दी प्रान्त, आसाम और उड़ीसा के मन्त्रिमण्डलों की जो छीछालेदर हुई उसे कौन नहीं जानता ? सिन्ध में वहाँ के एक मन्त्री महोदय पर वहाँ के लोकप्रिय भूतपूर्व प्रीमियर अल्लावख्स की हत्या करने का मुकद्दमा खुद वही सरकार चला रही है जिस के ये मन्त्री महोदय गुर्गे थे। वहाँ किस प्रकार निर्लज्ज वैयक्तिक राग-द्वेष को लेकर मन्त्रिमण्डल बनते और बिगड़ते रहे हैं यह भी सभी को मालूम है। वहाँ के मुस्लिम लीगी प्रीमियर गुलामहुसेन हिदायत उल्ला और सूबा मुस्लिमलीग के प्रेसीडेन्ट जी-एम. सय्यद में जो घृणित तू-तू-मैं-मैं, चख-चख और चालबाजियाँ हुईं उनकी निन्दा खुद जिन्नासाहब तक को करनी पड़ी ! वहाँ की मिनिस्ट्री ने किस अनुत्तरदायित्व के साथ 'सत्यार्थप्रकाश' को निषिद्ध घोषित किया यह भी सबको मालूम है। आसाम में कितने बार मन्त्रि-मण्डल टूटे, और अन्त में सरकारी कृपा पर स्थित मन्त्रिमण्डल को किस प्रकार इस्तेफा देना पड़ा यह भी दैनिक समाचार-पत्रों

में छप चुका है। उड़ीसा का मन्त्रिमण्डल किस तरह कुछ समय में ही अपनी मौत मर गया, किस तरह प्रान्तीय एसेम्बली के काँग्रेसी सदस्यों तथा भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री को जेल में रख कर उसने इतने समय तक अपने को जीवित रक्खा यह भी सर्व विदित है—तथा किस तरह सरहद्दी प्रान्त के मुस्लिम-लीगी मन्त्रिमण्डल का अल्पकालीन जीवन भी किस तरह काँग्रेसी सदस्यों के नज़रबन्दी के ही कारण सम्भव हुआ और इतने अल्पकाल में ही वहाँ की जनता में कितना बदनाम होगया कि जिसकी वजह से उस बदनामी से बचने के लिये जिस मुस्लिमलीग का वह मन्त्रिमण्डल था उसी को उसकी घोर निन्दा करनी पड़ी यह भी प्रसिद्ध है! पञ्जाब में मुस्लिमलीग और यूनियनिस्ट पार्टी का झगड़ा अनैतिक कार्य करने के कारण, सर सिकन्दर हयातखाँ के सुपुत्र तथा वहाँ के एक मिनिस्टर शौकत-हयातखाँ का निष्कासन तथा मुस्लिमलीगी सदस्यों द्वारा एसैम्बली में खुल्लमखुल्ला शिक्षामन्त्री पर वैयक्तिक स्वार्थ-साधन के आक्षेप भी पञ्जाब के समाचार-पत्रों में विस्तार से प्रकाशित हुए हैं। बङ्गाल के मन्त्रिमण्डल की जो दुर्गति हुई वह भी किसी से छिपी नहीं है। एक समय मुस्लिमलीग के गरमागरम नेता तथा बङ्गाल के प्रीमियर फजलहक़ साहब किस तरह गवर्नर द्वारा निकाले गये, उनके बाद सर नाजिमुद्दीन का मुस्लिम-लीगी मन्त्रिमण्डल किस प्रकार यूरोपियनों की वोटों से तथा नज़रबन्द काँग्रेसी सदस्यों की ग़ैरहाजिरी के कारण जिन्दा रहा, किस तरह कम्यूनिस्टों द्वारा लोकप्रिय और प्रतिनिधि कहे जाने

वाले इस मन्त्रिमण्डल ने इस्फहानी फर्म की मारफत नाज खरीदने में बदनामी पाई, किस तरह उनके एजेण्ट सी० पी० में सलाहकारी सरकार द्वारा अमानत में खयानत करते हुये गिरफ्तार किये गये, किस तरह इस मन्त्रिमण्डल में बीसियों लाख लोग भूखों मरे तथा अन्त में किस तरह यह मन्त्रिमण्डल एसेम्बली में हारने के कारण बरखास्त हुआ। यह सब काली कहानी भी ताजा है। फजुलहक के मुस्लिमलीगी मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का पहला प्रस्ताव १६० के खिलाफ १३० वोट से नामंजूर हुआ लेकिन इन १३० में २५ योरोपियन थे! यानी हिन्दुस्तानी सदस्यों का बहुमत मन्त्रिमण्डल के खिलाफ था। किस तरह यहाँ के राजनैतिक कैदी अन्त तक नहीं छोड़े गये तथा किस तरह बाबू शरत् बोस की गिरफ्तारी के दो दिन बाद उनकी पार्टी के दो सदस्य मन्त्रिमण्डल में शरीक होगये, किस तरह इस मन्त्रिमण्डल में मुसलमानों के अत्याचारों से विवश होकर दस हजार हिन्दू घर छोड़ कर भागे यह भी सब को मालूम है।

किस तरह इस मन्त्रि-मण्डल में मुसलमानों के अत्याचारों से विवश होकर दस हजार हिन्दू घर छोड़ कर भागे। प्रोफेसर कूपलैण्ड तक ने यह स्वीकार किया है कि इस मन्त्रि-मण्डल ने जन हित-साधन तथा शासन में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों का सा उत्साह नहीं दिखाया। पञ्जाब के मुस्लिम-लीगी मन्त्रि-मण्डल ने शहीदगंज मसजिद पर बहुत पहले से मुस्लिम शरीयत लागू करने का जो नया साम्प्रदायिक बिल पेश

किया उसे गवर्नर को हस्तक्षेप कर के रोकना पड़ा। यानी मन्त्रि-मण्डल की साम्प्रदायिक संकीर्णता से दूसरे सम्प्रदायों के तथा सार्वजनिक हितों और शान्ति तथा व्यवस्था की रक्षा के लिए हस्तक्षेप करने की आवश्यकता किसीभी गवर्नर को कांग्रसी मन्त्रि-मण्डलों में नहीं, अपने लाड़ले पञ्जाब के मन्त्रि-मण्डल में पड़ी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के वेतन-भोगी प्रचारक प्रो० कूपलैण्ड तक ने इन ग़ैर-कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों को कलङ्क-कालिमाओं का जो संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया है उसे हम यहाँ स्थानाभाव से नहीं दे सकते। सिन्ध के मुस्लिमलीगी मन्त्रि-मण्डल के सम्बन्ध में वहाँ की प्रान्तीय मुस्लिमलीग ने प्रस्ताव पास किया कि मन्त्रि-मण्डल भ्रष्ट और नालायक है। उड़ीसा में मिश्रा और राजासाहब दो मिनिस्टरों ने एक दूसरे पर राजनैतिक कैदियों के छोड़े जाने का विरोध करने का इल्ज़ाम लगाया। उड़ीसा के एक भूतपूर्व राजा प्रधान मन्त्री के भाई को ग़बन में सजा हुई। पञ्जाब के मुसल्मान प्रधान-मन्त्री खिज़रहयातखाँ साहब ने ऐलानियाँ यह कहा कि सरकार हिन्द मुस्लिमलीग को जितनी मदद मिलती है उतनी और किसी को नहीं।

इनके मुकाबिले में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों को देखिये। सन् १९३५ के भारतीय शासन-व्यवस्था एक्ट में ब्रिटिश साम्राज्य के सूत्रधारों ने ऐसी व्यूह रचना की थी कि जिसमें पहले तो कांग्रेस का बहुमत कहीं हो ही न सके और अनहोनी हो जाय तो वह किसी भी हालत में छः से अधिक सूबों में न हो सके। परन्तु कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों की स्थापना सात सूबों में हुई। सातवाँ

सूबा वह सरहदी सूबा था जिसकी अठानवे फीसदी आबादी अहले इस्लाम है। इससे यह आक्षेप भी अपने आप निराधार सिद्ध हो जाता है कि कांग्रेस न केवल हिन्दुओं की संस्था है और साथ ही यह भी कि जहाँ हिन्दू महासभाई संयुक्तप्रान्त में भी मुस्लिम लीगी प्रधान मन्त्री के साथ काम करते थे वहाँ कांग्रेस की राष्ट्रीय नीति के कारण सरहद में भी कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल कायम हुआ। सिद्धान्त, आदर्श और स्वदेश की स्वाधीनता के लिए ये मन्त्रि-मण्डल जब अपने आप इस्तैफा देकर चले आये तब भ्रष्ट तथा नालायक शासक और शोषितवर्गों तथा देशद्रोहियों ने स्वभावतः मुक्ति-दिवस मनाया परन्तु सारा संसार यह जानता है कि एक भी कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल उस तरह काला मुँह कर के नहीं निकाला गया। जिस तरह लगभग सभी गैर कॉंग्रेसी मन्त्रि-मण्डल निकाले गये। कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने कहीं भी यूरोपियन गवर्नरों की तथा ब्रिटिश साम्राज्य शाही की ऐसी गुलामी नहीं की जैसी एक मात्र स्थायी गैर-कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल पञ्जाब के मन्त्रि-मण्डल ने की। वहाँ के शिक्षा मन्त्री ने स्वयं प्रान्तीय एसेम्बली में यह मन्जूर किया कि मिनिस्टर महोदय के हुक्म को ठुकरा कर गवर्नर साहब ने एक सीनियर हिन्दुस्तानी की हक़तकलफी कर के जूनियर गोरे को मुकर्रर कर दिया जब कि कांग्रेसी मन्त्रि-मंडल ने एक नियुक्त गवर्नर की नियुक्ति को रद्द करा के दम लिया। किसी कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल के खिलाफ कभी अविश्वास का प्रस्ताव नहीं आया।

कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों के देश तथा जन-हितकारी कार्यों का

वर्णन स्वतन्त्र पुस्तक में ही सम्भव हो सकता है। यहाँ उनकी कहानी कांग्रेस के विरोधी तथा ब्रिटिश साम्राज्य शाही के वैतनिक अधिकारी प्रचारक प्रोफेसर कूपलैण्ड की जुबानी सुनिये। उन्होंने हिन्दुस्तान की वैधानिक समस्या की रिपोर्ट के दूसरे भाग में १६३६–४२ तक की भारतीय राजनीति की चर्चा करते हुये यह लिखा है कि "कांग्रेस-दल ही एक ऐसा दल था जो लोकहित की निस्वार्थ भावना से प्रेरित था।" (पृष्ठ ६७) कांग्रेस की शक्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि अपने सात सूबों में ही नहीं सिन्ध और आसाम की सरकारें कांग्रेस सरकारों जैसी हो गईं थीं। बङ्गाल में यदि कांग्रेस में फूट न होती और पंजाब के काँग्रेसी यदि इतने दकियानूसी न होते कि काँग्रेस पार्लियामेन्टरी बोर्ड को उन्हें आदेश न देना पड़ता कि ग्राम तथा जन हितकारी कानूनों का विरोध मत करो तो वहाँ भी काँग्रेस का हितकर तथा सम्मानप्रद प्रभाव होता। प्रो० कूपलैण्ड की रिपोर्ट पढ़ने से मालूम होता है कि जहाँ ग़ैर-कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने इतनी शर्मनाक साम्प्रदायिक नीति से काम लिया कि दस-दस हजार लोग गाँव छोड़ कर भागे, निष्पक्ष यूरोपियनों को तहकीकात कर के मुस्लिम लीग को साम्प्रदायिक दङ्गों का एक कारण बताना पड़ा तथा गवर्नर तक को हस्तक्षेप करना पड़ा वहाँ कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने सरदार पटेल के आदेशानुसार इस्तैफा देने से पहले अपने अपने गवर्नरों को अपनी तरफ से यह कहा कि यदि हमने कोई भी काम साम्प्रदायिक संकीर्णता से किया हो तो कृपा कर हमें बताइये। एक भी

गवर्नर अपनी दुश्मन संस्था के मन्त्रि मण्डलों में एक भी काम साम्प्रदायिक पक्षपात का न बता सका। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मिस्टर फजलुलहक़ और मिस्टर जिन्ना दोनों को खुली चुनौती विधिवत दी कि काँग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों द्वारा साम्प्रदायिक राग-द्वेष का कोई उदाहरण बताइये, न हो किसी भी निष्पक्ष न्यायाधीश से उन इल्जामों की जाँच करा लीजिये। जो आप कांग्रेस पर लगाते हैं लेकिन दोनों इस चुनौती को साफ टाल गये! इसके प्रतिकूल प्रो० कूपलैण्ड को अपनी उपर्युक्त पुस्तक के १७८ वें पृष्ठ पर लिखना पड़ा है कि "कुल मिलाकर कांगरेसी मन्त्रि-मण्डलों ने अल्प-मतों के साथ न्याय किया। संयुक्त प्राँत के भूतपूर्व गवर्नर सर हैरी हेग ने अपने अनुभव के आधार पर यह कहा कि "साम्प्रदायिक मामलों में कांग्रेसी मन्त्रियों ने निष्पक्षता से और न्याय करने की इच्छा से काम किया। ऐसा करने के लिए उन्हें हिन्दू महासभा की आलोचना का शिकार होना पड़ा।" मद्रास के गवर्नर ने भी मुक्त कण्ठ होकर कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल की प्रशंसा की। अपनी पुस्तक के १२८ वें पृष्ठ पर प्रो० कूपलैण्ड ने यह भी स्वीकार किया है कि "कांग्रेस की सहानुभूति मोटे तौरपर किसानों और मजदूरों के साथ थी। उनका कहना है कि शासन और व्यवस्था के मामले में भी कांग्रेस कसौटी पर खरी उतरी। मि० प्रकाशम की कमेटी ने दमामी बन्दोबस्त वाले रकबों में किसानों को जमीन का मालिक बनाने की सिफारिश की। उड़ीसा में कानून पास किया कि जमीदारी रकबों में लगान उस मालगुजारी से सिर्फ दो आना

रुपया ज्यादा हो जितनी रैय्यतवारी में सरकार को मालगुजारी देनी पड़ती है। ये अतिरिक्त दो आने जमींदारों को मिलें। लेकिन गवर्नर जनरल ने इस बिल की मंजूरी नहीं दी। बिहार और संयुक्त प्रान्त की सरकारों ने किसान हितकारी कानून बनाये उनके लिए वे समुचित गर्व के अधिकारी हैं। कांग्रेस सरकारों ने करोड़ों किसानों की हैसियत बढ़ाने और उसे सुरक्षित करने के लिए बहुत कुछ किया।.... हरिजनों को भलाई में गान्धीजी की दिलचस्पी से कोई इनकार नहीं कर सकता। "प्रो० कूपलैंड ने अपनी पुस्तक के तिरासीवें पृष्ट पर यह भी स्वीकार किया है कि 'कांग्रेस की शक्ति और उसका अनुशासन भारतीय शासन विधान को नष्ट करने में सफल हुआ।"

अपनी पुस्तक के १०४ वें पृष्ठ पर उन्होंने संयुक्त प्रान्त के ग्राम-सुधार-विभाग की चर्चा करते हुए लिखा है कि इस विभाग की ओर से जो ग्राम शिक्षा केन्द्र खोले गये वे कृषि-शिक्षा की पाठशालाएँ होने के बदले राजनीति-शिक्षण-शिविर थे।" इस विभाग ने रकबे और आबादी में फ्रांस, इङ्गलैंड और जर्मनी के बराबर सूबे में दो महीने के अन्दर हजारों देश-भक्त कार्य-कर्त्ता चुनकर तथा शिक्षित करके सूबे के प्रत्येक जिलों के मंडलों में मुकर्रिर कर दिये। इन नियुक्तियों में राष्ट्रीय गुरुकुलों तथा विद्यापीठों और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के प्रमाण-पत्रों को सरकारी विश्व-विद्यालयों के प्रमाण-पत्रों के समान माना गया। खुल्लमखुल्ला उसमें वे लोग भरती किये जिन्होंने सत्याग्रह और स्वाधीनता-संग्रामों में जेल काटीं थीं। चोरी और हत्याकाण्ड

तक का लम्बी सजा पूरी करके छूटे हुए अभियुक्त तक भरती किए गए। उम्मेदवारों की योग्यताओं में जेल हो आना एक निश्चित योग्यता थी। दो महीने के भीतर ही अड़तालीसों जिलों में ग्राम-सुधार जिला बोर्ड नियुक्त कर दिये गये। इन जिला बोर्डों के चेयरमैन ग़ैर-सरकारी थे तथा इनमें सर्वत्र गैरकारी बहुमत था। इन्हें पूरे अधिकार प्राप्त थे। विभाग की क्रान्तिकारी नीति की प्रचण्डता से घबड़ा कर गवर्नर महोदय, विभाग के सञ्चालक से जवाब पर जवाब तलब करते। मिनिस्टर महोदय चिन्तायुक्त स्वर में कहते, कहीं हिन्द-सरकार अपनी लाखों रुपये सालाना की मदद बन्द न करदे। 'पायोनियर' और 'टाइम्स आफ इण्डिया' जैसे पत्र प्रतिदिन विभाग-संचालक के खून की पुकार मचाते। प्रान्तीय एसेम्बली में विभाग के सम्बन्ध में सवालों की भी लड़ी लड़ाई गयी, कामरोको प्रस्ताव तक पेश किये जाते। विभाग-सञ्चालक का निश्चय था कि जिस तरह दो महीने में तमाम मशीनरी ठीक जमादी गई है। उस तरह अगले तीन महिने में सूबे में दस लाख वावर्दी ग्राम-सेवक भरती कर दिये जावें। बावजूद इन सब बातों के कांग्रेसी—विशेष कर अपने को अग्रगामी और वाम-पक्षी तक कहने वाले कांग्रेसियों ने विभाग को न केवल उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा बल्कि उसका विरोध भी किया। इन्हीं के कारण कांग्रेसी विभाग संचालक के इस्तैफा दे देने पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल को यह साहस हुआ कि वह विभाग को सरकारी आदमी के हाथों सौंप दे तथा उसे सरकारी बनाया जाय जिससे सब किया कराया चौपट हो गया और

ग्राम-कार्यकर्त्ताओं के कथनानुसार विभाग के ग्राम-सुधार के कार्य को तिलाञ्जलि देकर मधु-मक्खी पालने के नाम पर मक्खियाँ मारने लगा।

कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के कार्य की इस संक्षिप्त झाँकी से पाठक महात्मा गान्धी की इस उक्ति की सार्थकता समझ गये होंगे कि कांग्रेस के दुश्मनों और गवर्नरों ने कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों के कार्यों में इतनी दस्तन्दाजी नहीं की जितना अपने को कांग्रेसी कहने वाले लोगों ने।

कांग्रेसी और ग़ैर-कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों में यह स्पष्ट अन्तर सर्वविदित है कि कांग्रेस का बड़े से बड़ा दुश्मन भी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के विरुद्ध कोई उचित, विवेक युक्त, गम्भीर आरोप नहीं लगा पाता, इसके विपरीत कांग्रेस के शत्रुओं को इन मन्त्रि मण्डलों की बरबस प्रशंसा करनी पड़ती है जब कि ग़ैर कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों की निन्दा खुद उनकी पार्टी के लोग और वह सरकार तक करती है जिसके वे पिछलग्गू रहते हैं। ग़ैर कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों में से हरएक के किसी न किसी मन्त्री को अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा या गवर्नर द्वारा निकाला गया। उन पर स्वार्थ-साधन तथा सार्वजनिक नीति और सदाचार के विरुद्धाचरण का आरोप सफलतापूर्वक लगाया गया, उन्हें या उनके रिश्तेदारों पर गबनादि के मुकदमे चले और साबित हुए; इन मन्त्रि-मण्डलों ने राजनैतिक बन्दियों को भी नहीं छोड़ा, उन्होंने हूरों और खाकसारों को भून डाला, वे यूरोपियनों, गोरे अफसरों तथा ब्रिटिश साम्राज्यशाही के हाथ की कठपुतली रहे,

उनकी नीति सर्वथा प्रतिक्रियावादी, स्वार्थमयी तथा सिद्धान्तहीन रही, उनके शासन-काल में बीसियों लाख भूखों मर गये, लेकिन अग्रगामी वामपक्षी और क्रान्तिकारी इन मन्त्रि-मण्डलों को लोकप्रिय और जनता के प्रतिनिधि मन्त्रि-मण्डल कहते रहे, उनका समर्थन ही नहीं करते रहे, उनके गुण गाते रहे जब कि ये ही कामरेड कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों का रात-दिन विरोध करते थे, तरह-तरह से उन्हें बदनाम करते थे, उनके खिलाफ प्रदर्शन करते थे, उन्हें काले झण्डे दिखाते थे और मि० मुन्शी तथा सरदार पटेल को पत्थरों से मारते थे !

अब तक के विवेचन से इतना सूर्य की तरह प्रत्यक्ष है कि एम.एन.राय, कम्यूनिस्ट और ब्रिटिश साम्राज्यशाही के कर्णधारों की इन आलोचनाओं की असलियत क्या है ? सच बात तो यह है कि डाक्टर खाँ साहब, पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त प्रभृति लगभग सभी काँग्रेसी प्रधानमन्त्री, सिद्धान्त-परता, सच्चरित्रता, स्वार्थशून्यता और जन-हित-रति में संसार के किसी खलीफा, विक्रमादित्य या लैनिन-स्तालिन से कम नहीं हैं परन्तु दोषदर्शियों से, छिद्रान्वेषियों से, उन खल लोगों से जो जोंक की तरह दुधारू गाय के थन पर लगकर भी दूध न पीकर खून ही पीते हैं क्या कहा जाय ? संसार की सबसे अधिक लोकतन्त्रीय संस्था काँग्रेस केवल इसीलिये फासिस्ट है क्योंकि वह एम.एन.रायों को बिकने की तथा कम्यूनिस्टों को राष्ट्रद्रोह की "स्वतन्त्रता" नहीं देती ? सर जेम्सग्रिग और प्रोफेसर कूपलैन्ड उसे इसलिये फासिस्ट तथा सर्वग्राही, सर्वाधिकारसम्पन्न संस्था कहते हैं क्योंकि वह

काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का निरीक्षण अखिल भारतवर्षीय पार्लियामेण्टरी बोर्ड द्वारा करती है, किसी मिनिस्टर या प्रान्त को ब्रिटिश साम्राज्य शाही और भारतीय नौकरशाही के हाथों बिकने नहीं देती। बात असल में यह है कि ब्रिटिश शासक-वर्ग को यह आशा थी कि युद्धकाल में जो करोड़ों रुपये आदान-प्रदान करने का अवसर मिनिस्टरों को मिलेगा उसका प्रलोभन काँग्रेसी संवरण नहीं कर सकेंगे। प्रोफेसर कूपलैण्ड ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में खुल्लमखुल्ला यह बात कही है और एम.एन.राय तथा कम्यूनिस्ट प्रभृति उस प्रलोभन का सवरण नहीं ही कर सके लेकिन जब उन्होंने यह देखा कि काँग्रेस ने इस प्रलोभन को ठीकरी की तरह ठुकरा दिया तब वे काँग्रेस को सर्वग्राही दबाव से काम लेने वाली आदि कह कर अपने जी के फफोले फोड़ने लगे। वैसे सारा संसार यह जानता है कि काँग्रेस में उसके ध्येय को स्वीकार करके तथा चार आने साल भर की फीस देकर कोई भी हिन्दुस्तानी सदस्य हो सकता है। काँग्रेस के पदाधिकारियों का चुनाव हर साल होता है। वहाँ स्टालिन की तरह पचीस-पचीस बरस तक कोई एक व्यक्ति सैक्रेटरी या प्रेसीडेन्ट भी नहीं रह पाता फिर भी वह फासिस्ट है। सच बात यह है कि आजकल भाषा का प्रयोग विचारों और सचाई को व्यक्त करने के लिए नहीं उसे छुपाने के लिये किया जाता है। शब्दों को बिलकुल ही विपरीत अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। मिस्टर अमेरी के शब्दों पर विश्वास किया जाय तो भारत पर अटलाँटिक चार्टर पहले ही से लागू है! सर फिरोजखाँ नून पर विश्वास किया जाय

तो कागज़ पर भले ही न सही भारत काबिले-स्वतन्त्र है! प्रो० कूपलैण्ड पर विश्वास किया जाय तो १८८८ में ही अंग्रेज़ यह सोच रहे थे कि वे हिन्दुस्तान से ब्रिटिश राज हटा लें। बेचारे जो अब तक यहाँ पैर खगाये बैठे हैं वे केवल इसलिये क्योंकि 'परोपकाराय सतां विभूतयः'। उनकी रायशरीफ़ में भारतीय प्रान्तों को उतनी ही स्वाधीनता प्राप्त है, व्यवस्थापिका और कार्यकारी मामलों में, जितनी आस्ट्रेलिया या अमेरिकन कामनवैल्थ की किसी रियासत को! कॉंग्रेस के शत्रुओं के शब्दों के अर्थ हमें शब्द-कोषों से नहीं उनकी असली नीयत से ही मिल सकते हैं। कौन नहीं जानता कि जब हिन्दुस्तान के बहुत से गवर्नर विद्यार्थियों को दीक्षान्त भाषण देते समय उन्हें स्वतन्त्ररूप से सोचने का उपदेश देते हैं तब उसके माने यह होते हैं कि अपने देश के नेताओं का अनुकरण न करो, समाज और स्वदेश का अनुशासन मत मानो। गवर्नरों की इस सलाह के शब्दार्थ को मान कर जो कोई विद्यार्थी आचरण न करे तो उसे भगतसिंह की तरह वहाँ जाना पड़े "यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते।"

कम्यूनिस्ट प्रभृति कांग्रेस विरोधियों के इस प्रचार को ही ले लीजिये कि लीग और कांग्रेस में एकता होनी चाहिए। जब कम्यूनिस्ट यह नारा लगाते हैं तब असल में उनके माने यह होते हैं कि कॉंगरेस को लीग के सामने आत्म-समर्पण कर देना चाहिए। वे लीग से कभी यह नहीं कहते कि तुम्हें कांग्रेस से समझौता करना चाहिये। गांधीजी के रास्ते को वे बिड़ला बजाज का रास्ता कहते थे तथा कांग्रेस को पूँजीपतियों की संस्था। लेकिन लीग

उनके लिए सर्वथा राष्ट्रीय और प्रगतिशील संस्था है। वे कांग्रेस से केवल लीग को ही, मुसल्मानों को ही, आत्म-निर्णय का अधिकार नहीं चाहते, सांस्कृतिक आत्म-निर्णय के नाम पर भारत के प्रवासियों टुकड़े कर डालना चाहते हैं। उन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं कि रूस में यह सिद्धान्त बिल्कुल ही भिन्न परिस्थितियों में लागू करना पड़ा था। उन्हें इस बात से भी कोई गरज़ नहीं कि वहाँ भी अमल में यह सिद्धान्त पूत सिद्धान्त है। सोविएत सङ्घ में सम्मिलित सदस्यों को बजट पर कोई अधिकार नहीं और स्टालिन ने यह भी कई बार साफ साफ कह दिया है कि सदस्यों के अलग होने का अधिकार अनियमित नहीं है, वह तभी स्वीकार किया जा सकता है जब समाज-वाद और मजदूरों के राज्य को उससे कोई धक्का न पहुंचे। पहले सदस्यों को अलग होने का अधिकार देना तो दूर सोविएत रूस पोलैण्ड, फिन्लैण्ड आदि पर आक्रमण कर दे तब भी कम्यूनिस्टों को कोई मतलब नहीं, वे तो यह चाहते हैं कि कांग्रेस भारत में जो लोग अलग नहीं होना चाहते उन्हें भी अलग कर कम्यूनिस्टों को कहने से, जिससे टुकड़े टुकड़े हुए भारत पर वे अथवा उनका रूस सहज ही कब्जा कर सके! कांग्रेस की शक्ति को क्षीण करने के लिए ही वे यह नारा लगाते हैं कि कांग्रेस प्लेट फार्म, राजनैतिक वाद-विवाद का रंग मंच होना चाहिये। उसके सदस्यों को उसके निर्णयों को ठुकराने का पूर्ण अधिकार होना चाहिये जब कि हमारी सङ्गठन पार्टी होना चाहिये। उसमें हमें यह भी अधिकार होना चाहिये कि हम किसानों और मजदूरों की बात तो टग

मार्क्सवादी और स्टालिनवादियों को भी उस समय तक अपनी पार्टी का मेम्बर न होने दें जब तक कार्यकारिणी स्वीकार न करे और जब तक इस प्रकार स्वीकृत मेम्बर कुछ बरस तक अपनी परीक्षा न दे दे। विचार करने पर कम्यूनिस्टों, मुस्लिम-लीगियों और ब्रिटिश-साम्राज्यवादियों को कांग्रेस की नेक सलाहें बिल्लकुल वैसी ही मालूम होती हैं जैसी हितोपदेश की कहानी में युवा कबूतर को बुड्ढी बिल्ली का "असारोऽयं संसार: क्षण-भङ्गुराहि शरीरा" का उपदेश! यदि कांग्रेस स्वाधीनता संग्राम के समय उसमें विजय पाने के लिए अनुशासन पर जोर दे तो उसे पार्टी करार दिया जाता है और यह कहा जाता है कि गद्दारों के विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही करने पर कांग्रेस राष्ट्रीय नहीं रह सकती। मानों, कांग्रेस के लिए यह अनिवार्यत: आवश्यक है कि वह अपने शत्रुओं के मुँह से अपने को राष्ट्रीय कहलाने के लिए राष्ट्र-द्रोहियों को, अपने को नष्ट करने की पूर्ण सुविधा और स्वाधीनता प्रदान करे। आश्चर्य की बात तो यह है कि श्रीमती सरोजनी नायडू तक इस जहरीले प्रचार की शिकार हुईं। संसार में क्या कोई ऐसी संस्था जीवित रह सकती है जो अपने नियमों और निर्णयों को भङ्ग करने वाले लोगों के विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही न करे, जो अपने जाने-पहचाने शत्रुओं से अपनी रक्षा न करे। जब भगवान तक केवल साधुओं के परित्राण के लिए ही नहीं दुष्कृतों के विनाश के लिए भी अवतार लेते हैं, जब दुष्टों को दुरुस्त करनै के लिये यीशुमसीह तक को कोड़े के इस्तैमाल की सलाह देनी पड़ी थी तब कांग्रेस ऐसी संग्राम-

निरत राजनैतिक संस्था से यह कहना कि वह अपनी एकता-अपने सङ्गठन और अपने अनुशासन को कड़ा तथा मजबूत न करे, उसके प्रति अपनी शत्रुता का परिचय देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संसार के समस्त इतिहास में स्वाधीनता-संग्राम के किसी भी नायक ने गुलामों को यह विश्वास दिलाने की आवश्यकता नहीं समझी कि तुम्हें स्वाधीन होना चाहिए। उग्रम स्वाधीनतावादी रूसो तक का कहना है कि हमें लोगों को स्वतन्त्र होने के लिए विवश करना चाहिए। लैनिन का यह सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है कि स्वाधीनता की लड़ाई सदैव अल्पसंख्यक शासक-वर्ग और अल्पसंख्यक विद्रोही-वर्ग की लड़ाई होती है। हमारी राष्ट्रीय महासभा काँगरेस ने तो संसार की समस्त प्रचलित कसौटियों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि वह भारत के भारी बहुमत की सुव्यक्त इच्छा को पूरा करती है जब वह भारत की स्वाधीनता के लिए ब्रिटिश साम्राज्यशाही के सामने खम ठोक कर आती है। अहिंसात्मक स्वाधीनता-संग्राम तो भारी बहुमत की सहमति ही नहीं सक्रिय सहायता के बिना सफल ही नहीं हो सकता। किसी भी देश अथवा राष्ट्र की व्यापक इच्छा (Common will) के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्येक व्यक्ति अथवा प्रत्येक व्यक्ति-समूह की इच्छा हो। भारत की राष्ट्रीय-स्वाधीनता की भावना का एक मात्र प्रतिनिधि होने के लिए कांग्रेस को इस बात की आवश्यकता नहीं है कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के गुलामों और देश के ग़द्दारों की स्वीकृति ले या उनको अपने सङ्गठन में जगह दे। अगर

अमेरिका में जार्ज वाशिङ्गटन, फ्रांस में डीगोल, इङ्गलैण्ड में चर्चहिल, रूस में स्टालिन एक पार्टी होते हुए भी सारे देश के प्रतिनिधि हो सकते हैं तो इनसे कहीं अधिक व्यापक लोकतन्त्रीय आधार पर स्थित कांग्रेस क्यों नहीं भारतीय स्वाधीनता संग्राम के लिए लड़ने वाली एक मात्र पार्टी होते हुए समस्त देश और राष्ट्र की प्रतिनिधि हो सकती है ? लैनिन, ट्राटस्की और स्टालिन तो सफल क्रान्ति के लिए आवश्यक समस्त अनुकूल परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भी इस प्रकार की पार्टी की अनिवार्य आवश्यकता समझते हैं। फिर कांगरेस के लिए ही प्लेटफार्म बने रहने का विचित्र उपदेश क्यों दिया जाता है ?

अब तक के विश्लेषण से इतना स्पष्ट हो चुका है कि कांग्रेस के विरुद्ध उसके शत्रुओं का प्रचार विधायक या विवेक-युक्त आलोचना न होकर राष्ट्र की संकल्प शक्ति, राष्ट्र के मन, और राष्ट्र की आत्मा को निर्बल करने वाला विषैला प्रचार है। वह हमारे स्वाधीनता संग्राम के विरुद्ध चालाकी के साथ किये जाने वाले नैतिक युद्ध-विचार और प्रचार-युद्ध का एक भाग है। संसार के अनेक विद्वान विचारक जनता को यह चेतावनी दे रहे हैं कि इन दिनों घातक शस्त्रास्त्रों के साथ-साथ घातक प्रचार की भी असीम शक्ति सत्ताधारियों, शोषक और शासक वर्गों के हाथ में आ गई है। उससे अपनी रक्षा करने के लिए जनता को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये और विशेष उपाय सोच कर उनसे काम लेना चाहिये। यह चेतावनी हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम के

लिए बहुत ही पुरमानी है। हमें अपनी बुद्धि और अपने मनोभावों को अपने मनों और अपनी अन्तरात्मा को इस जहरीले प्रचार के प्रभाव से बचाने के लिए कठोर कर लेना चाहिये। हमें अपने शत्रुओं को पहचान लेना चाहिये और उनकी प्रत्येक बात पर विचार करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह शत्रु की कही हुई है। उसका कुछ न कुछ गुप्त तथा हानिकर उद्देश अवश्य होगा। हर हालत में हमें पंचतन्त्र के पोंगा पंडित की तरह तीन धूर्तों के कहने से अपने बछड़े को गदहा नहीं समझ लेना चाहिये। फासिस्टों और सर्वग्राहियों के सामने अपने को लोकतन्त्रीय सिद्ध करने के लिए हमें कांग्रेस की एकता, दृढ़ता और उसके अनुशासन को उन्मूलित नहीं करना चाहिये।

पाकिस्तान के प्रश्न को लीजिये। उसकी अव्यावहारिकता सर्वमान्य है। उससे हिन्दू-मुस्लिम समस्या हल नहीं होती बल्कि कई गुनी बढ़ती है। क्योंकि यदि सब मुसलमानों को पाकिस्तान नहीं भेजा जाता, जैसा कि नहीं किया जा सकता तो पञ्जाब और बङ्गाल में लगभग आधे के करीब ग़ैर-मुस्लिम रहते हैं! यदि हिन्दुस्तान भर के छब्बीस फीसदी मुसलमानों के लिए आत्मनिर्णय आवश्यक है तो पञ्जाब और बङ्गाल के आधे के लगभग हिन्दुओं के लिए क्यों नहीं? यदि इन सूबों के ग़ैर-मुस्लिम बहुसंख्या वाले जिलों को इनसे अलग किया जाता है तो इनकी माली और औद्योगिक हालत असम्भव हो जाती है। पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के बीच में सैकड़ों मील हिन्दुस्तान रहेगा। इस प्रकार पाकिस्तान से मुसलमानों को भी लाभ के बदले हानि

ही हानि है। उससे राष्ट्रीय एकता मिटती है, राष्ट्र की रक्षा-शक्ति भङ्ग होती है, अमेरिका का इतिहास हमें यह बताता है कि जब तक वहाँ के लोग प्रान्तीयता से परे नहीं उठे तब तक वहाँ न तो शान्ति हुई न एकता। उसकी जनहितकारी आर्थिक योजना प्रत्येक व्यक्ति की, किसान की आमदनी फी व्यक्ति चौगुनी करने की योजना असम्भव होती है, साम्प्रदायिक समस्या कई गुनी उलझती है। स्वयं प्रोफेसर कूपलैण्ड मुस्लिम-लीग के प्रचार को तथा उसकी माँग को अविवेक युक्त (Irrational) मानते हैं। मुस्लिम-लीग ने अभी तक पाकिस्तान की सुनिश्चित योजना बार-बार माँगे जाने पर भी देश के सामने नहीं रक्खी। उसने अभी तक इस बात का भी कोई सबूत नहीं दिया कि वह सचमुच पाकिस्तान चाहती है क्योंकि यदि वह पाकिस्तान चाहती होती तो ब्रिटिश-साम्राज्यशाही से उसके लिए संग्राम करती। क्योंकि आखिर पाकिस्तान तो ब्रिटिश-साम्राज्य के ही अधीन है, कांग्रेस के अधीन तो है नहीं। परन्तु मुस्लिम-लीग ने आज तक कभी ब्रिटिश साम्राज्यशाही का मुक़ाबिला नहीं किया और वह कांग्रेस से हमेशा लड़ती रही। अखिल भारतवर्षीय मुस्लिम-लीग की कार्यकर्त्री कमेटी के सदस्यों में तीन-चौथाई से अधिक ऐसे हैं कि जिस क्षण हिन्दुस्तान के वाइसराय यह चाहें कि वे पाकिस्तान की माँग को छोड़ दें, उसी क्षण वे मुस्लिम-लीग और कायदे आज़म को जलते हुए कोयले की तरह फेंक देंगे। प्रोफेसर कूपलैण्ड तक ने यह लिखा है कि यद्यपि कांग्रेस और मुस्लिम-

लीग दोनों ने युद्ध में सहायता न देने की घोषणा की, लेकिन मुसलमानों ने ही नहीं, मुस्लिमलीगियों तक ने मुस्लिम-लीग और क़ायदे आज़म को धता बता कर युद्धोद्योग में भरपूर मदद दी। सिन्ध, पंजाब, बंगाल, आसाम के मुस्लिम-लीगी प्रधान-मन्त्रियों ने किस प्रकार अपने स्वार्थ के लिए मुस्लिम-लीग के आदेशों को ठुकराया यह भी सभी को मालूम है। शिया, मोमिन, जमायतउल उलैमा, आज़ाद और क़ौमी ख्यालात के मुसलमान पाकिस्तान नहीं चाहते। फिर भी कम्यूनिस्ट, मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त की कहावत को चरितार्थ करते हुए पाकिस्तान देदो, पाकिस्तान की माँग को पूरा करदो का शोर मौके-बे-मौके हर वक्त मचाते रहते हैं। महात्मा गान्धी ने जिन्ना से यहाँ तक कह दिया कि यदि मुस्लिम बहुसंख्या वाले प्रान्तों में वहाँ की जनता अलग होने के पक्ष में अपना मत प्रकट करेगी तो उन्हें अलग होने दिया जायगा। लेकिन कम्यूनिस्टों की राय है कि जनता अलग होना चाहे या न चाहे महज़ मुस्लिम-लीग और कायदे आज़म के कहने से उन्हें अलग कर देना चाहिये।

ऊँच-नीच का भाव और देशद्रोहियों का सामाजिक अनुशासन मानव-समाज की विश्व-व्यापी घटनाएँ हैं। ब्रिटेन तक में ऊँच-नीच का भाव इस हद तक है कि हुशियार कारीगर मज़दूर की बीवी मामूली मज़दूर की बीवी से सामाजिक सम्बन्ध रखना उससे बराबरी के दर्जे से मिलना अपनी शान के खिलाफ समझती है। अमेरिका में नीग्रो लोगों के साथ जो बर्बरतापूर्ण व्यवहार होता है वह जग-जाहिर है। मार्क्स-

वादी न केवल पूँजीपतियों और जमींदारों को ही अछूत समझते हैं बल्कि भ्रष्ट सर्वहाराओं के साथ भी अछूतों का सा वर्ताव करते हैं, सोवियट रूस में सर्वहारा वर्ग के शत्रु और स्टालिन पार्टी के राजनैतिक विरोधी मार्क्सवादी हों तो भी मौत के घाट उतार दिये जाते हैं। प्राचीन भारत में भी अकर्मा और अन्य व्रतों को सामाजिक अनुशासन का सामना करना पड़ता था, स्पैंगलर ओसवाल्ड संस्कृति के परापों की गणना शत्रुओं में करता है परन्तु हिन्दुस्तान में महात्मा गाँधी अछूतपन को मिटाने के लिए मरणान्तउपवास करें, दकियानूसियों द्वारा उन पर बम फैंकी जाय, वे अहर्निश हरिजनों की सेवा में रत रहें तब भी प्राचीन अछूत वर्ग के कारण भारत स्वराज्य तथा स्वाधीनता के अयोग्य हो जाता है।

मार्क्सवाद के अनुसार राष्ट्रीयता का उदय ऐतिहासिक आवश्यकता है। वह सामाजिक विकास के बुरजओई युग का अपरिहार्य स्वरूप है। संसार के समस्त विचारक यह मानते हैं कि राष्ट्र-प्रेम में व्यक्ति की आत्मा का विकास होता है व्यक्ति अपनी सीमा से परे उठता है, अपना अतिक्रमण करता रहता है। स्वयं मार्क्स और भूतपूर्व तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के कम्यूनिस्ट घोषणा पत्रों में पराधीन देशों में राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम को क्रान्तिकारी और समाजवादी क्रान्ति से पहले की अनिवार्य अवस्था माना गया है, यह कहा गया है कि आप इस मंजिल को फाँद

भारत के कम्यूनिस्ट विचारकों की भी यह राय है कि "भारत अङ्गरेज पूँजीपति शासकों और हिन्दुस्तानी सामन्तों की दुहरी गुलामी में पिस रहा है, जिनमें सब से मजबूत और सब से चतुर अङ्गरेज शासक हैं। उनके हटा देने पर सिर्फ स्वदेशी सामन्तों से भुगतना पड़ेगा जोकि भारतीय जनता के लिए अधिक आसान होगा।" लेकिन इन सब तथ्यों और सत्यों के होते हुए भी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ने वाली एक मात्र संस्था राष्ट्रीय कांग्रेस की शक्ति को तरह तरह से अस्त-व्यस्त किया जाता है तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्रामों का खुला विरोध किया जाता है।

भारत की राष्ट्रीयता आक्रामक और साम्राज्यवादी न होकर प्रगति पोषक और समुच्चयात्मक है। वह संघीय तथा मैत्सिनी-वादी राष्ट्रीयता है। वह अन्तर्राष्ट्रीयता का सोपान है। जनरल स्मट्स तक का यह कहना है कि गान्धी की राष्ट्रीयता सारतः उनकी विश्वव्यापी मानवता का अङ्ग उसका एक साधन है। कांग्रेस ने अपने ऐतिहासिक अगस्त ४२ के प्रस्ताव में यह स्पष्ट घोषणा करदी है कि स्वतन्त्र भारत सहर्ष स्वतन्त्र राष्ट्रों के विश्वसङ्घ का सदस्य बनने तथा उसमें पूर्ण सहयोग देने को तैयार है फिर भी यह सर्वथा मिथ्या आक्षेप किया जाता है कि कांग्रेस की राष्ट्रीयता संकीर्ण तथा प्रतिक्रियावादी है जब कि सही बात यह है कि कांगरेस पर राष्ट्रीय संकीर्णता का आक्षेप करने वाले जब अन्तर्राष्ट्रीयता का नाम लेते हैं तब उसके माने या तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के होते हैं या नये सोवियट साम्राज्यवाद के।

अगस्त प्रस्ताव से कांग्रेस पर लगाया गया यह इल्जाम भी झूँठा साबित हो जाता है कि वह केवल अपना राज चाहती है। उस प्रस्ताव में साफ-साफ यह कहा गया है कि कॉंग्रेस हिन्दुस्तान में यहाँ की समस्त जनता का राज चाहती है। कांग्रेस की विधान-निर्मात्री राष्ट्रीय-पञ्चायत की घोषणा इस बात का दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह बात भी सब को मालूम तथा सर्वमान्य है कि समूचे भारत की स्वाधीनता के लिए कॉंग्रेस ने जितना अधिक और जितना सफल बलिदान किया है उसका शतांश भी उसके सब विरोधियों ने मिलकर नहीं किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कांग्रेस पर भारतीय स्वाधीनता के शत्रुओं द्वारा लगाये जाने वाले समस्त आरोप मिथ्या, निराधार तथा धूर्त्ततापूर्ण हैं। न्याय, सत्य और धर्म कांग्रेस के पक्ष में है। उसके पौराणिक बलिदान और उसकी ऐतिहासिक जन-सेवा उसकी शक्ति के अटूट स्रोत हैं। उसकी विजय उसी प्रकार निश्चित है जिस प्रकार कल प्रातःकाल सूर्योदय का होना।

———

अखीरी मंजिल के चौराहे पर—अब किधर ?

हमारी राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस-राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में मंजिल पर मंजिल फतह करती हुई बराबर आगे कदम बढ़ाती हुई चली जा रही है। आज हम अपने राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की अखीरी मंजिल के चौराहे पर खड़े हुए हैं। आज हमारे सामने सब से पहला सवाल यह है कि अब किधर ?

इस चौराहे से एक रास्ता प्रतिनिधि सत्तात्रय संस्थाओं की ओर दूसरा फासिस्टवाद की ओर, तीसरा मार्क्सवाद की ओर तथा चौथा गान्धीवाद, ग्रामवाद और किसान-राज की ओर ले जाता है। देश का मुट्ठी भर लिबरल-दल तथा पार्लियामेन्टरी मनोवृत्ति से ग्रस्त कांग्रेसी हमें पहले रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं। खाकसार, मुस्लिमलीग, हिन्दू-महासभा, क्षत्रिय महासभा प्रभृति का झुकाव फासिस्टवाद की ओर है। कांग्रेस-समाजवादी, कम्यूनिस्ट, रायवादी, ट्राटस्कीवादी इत्यादि मार्क्स-वाद का ढोल पीटते हैं। देश की जनता, राष्ट्रीय भावना सम्पन्न साम्राज्य विरोधी वर्ग तथा राष्ट्रीय महासभा आज पच्चीस वर्ष से गान्धीवाद की ओर चलने का प्रयत्न कर रही हैं। उनके सामने अब किधर का सवाल ही नहीं है फिर उसमें पेचीदगी की बात ही नहीं उठती। देश के शुद्ध तथा स्वस्थ हृदय और उसकी तथा राष्ट्रीय आत्मा की प्रगति किसी अन्तः प्रेरणा से अपने आप गान्धी-मार्ग की ओर है। फिर भी इस सवाल पर विचार

करके उसका उत्तर देना इसलिए आवश्यक है क्योंकि राष्ट्र गंगा की इतस्ततः प्रवाहिनी शाखाएँ प्रशाखाएँ उसकी वह दशा न करदें जो आगरे में जमुना की हो जाती है।

लेखक जिस समय महात्मा गान्धी ने बहिष्कार का कार्यक्रम दिया था उस समय भी पार्लियामेन्टरी प्रणाली से लाभ उठाने का, राष्ट्रीय स्वाधीनता के सग्राम में उसका उपयोग करने का पक्षपाती था। १९२२ में जब सत्याग्रह जाँच कमेटी ने कानपुर में उसकी गवाही ली तब भी उसने कौंसिल प्रवेश के पक्ष में राय दी थी। उसके बाद कांग्रेस में जब-जब स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं अथवा व्यवस्थापिका सभाओं आदि के बायकाट का सवाल आया, उसने अपनी सम्मति सदैव उनका बायकाट न करके उनसे लाभ लेने के पक्ष में दी। १९३६ में जब पद-ग्रहण के पक्ष और विपक्ष में देशव्यापी राजनैतिक विचार उठ खड़ा हुआ था तब भी वह सदैव १९३५ की शासन व्यवस्था को सफलतापूर्वक नष्ट करने तथा उससे जन-सेवा द्वारा जन-शक्ति बढ़ाने के पक्ष में रहा। संसार की लगभग सभी क्रान्तिकारी पार्टियाँ प्रतिनिधि, सत्तात्रय संस्थाओं का उपयोग करने के पक्ष में रही हैं। आयरलैण्ड के सिनफिनों का उदाहरण और अमेरिका की रियासतों के प्रतिनिधियों द्वारा स्वाधीनता की घोषणा की अमर ऐतिहासिक घटनाएँ सभी को मालूम हैं। मार्क्स और फ्रैडरिक ऐन्जिल्स ने भी पार्लियामेण्टरी पद्धति से पूरा-पूरा लाभ उठाने की नीति का जोरदार भाषा में समर्थन किया है। लैनिन ने भी रूस की जार की ड्यूमा के लिए बोल्शेविक पार्टी

के उम्मेदवार खड़े किये थे। यूरुप और अमेरिका में सर्वत्र समाजवादी और साम्यवादी पार्टियाँ पार्लियामेण्टरी प्रणाली का उपयोग करती हैं, उनके चुनावों में अपने उम्मेदवार खड़ा करतीं तथा व्यवस्थापिका सभाओं में हिस्सा लेती हैं। कहने का मतलब यह कि लेखक इस बात के विरुद्ध नहीं है कि पार्लियामेण्टरी प्रणाली से पूरा-पूरा काम लिया जाय। परन्तु पार्लियामेण्टरी पद्धति का उपयोग करना, स्वाधीनता-संग्राम और जनसाधारण के हित में, एक बात है, और उसी को स्वाधीनता-संग्राम का एकमात्र साधन मान अथवा बना बैठना बिल्कुल दूसरी बात। अपने स्वाधीनता-संग्राम में हम पार्लियामेण्टरी प्रणाली का बायकाट भले ही न करें परन्तु उसे स्वाधीनता-संग्राम का एकमात्र साधन कदापि नहीं मान सकते। उसे स्वाधीनता-संग्राम और लोक-हित तथा जन-हित का एकमात्र साधन मानना तो दूर हम उसे सर्वोपरि साधन भी नहीं मान सकते। यह स्थान तो जन-सेवा, जन-जाग्रति और जन-शक्ति सञ्चय तथा जन-बल सङ्गठन को ही दिया जा सकता है। पार्लियामेण्टरी-पद्धति का स्थान इससे बाद ही—गौण ही, हो सकता है। केवल पार्लियामेण्टरी शक्ति अथवा वैधानिक आन्दोलन से किसी पराधीन देश को आजादी कभी कहीं न तो मिली है न मिल ही सकती है। अंग्रेज जानबुल के नाम से मशहूर हैं। उनकी बुलडॉगी पकड़ भी मशहूर है। चर्चहिल अंग्रेजों की जिस बुलडोगी मनोवृत्ति की प्रतिमूर्ति है वह किसी चीज को पकड़ कर फिर छोड़ नहीं सकती। चर्चहिल ने खुद

यह ऐलान किया था कि जो कुछ हमारे पास है उसे हम कभी नहीं छोड़ेंगे। मैं बादशाह तथा सम्राट का प्रधान मन्त्री ब्रिटिश साम्राज्य का टाट पलटने के लिए नहीं हुआ हूँ। जिस अंग्रेज साम्राज्यशाही ने १९४२ के अप्रेल के बुरे दिनों में भी, जब स्वयं उनके सैनिक अधिकारी खुल्लम-खुल्ला यह कहते थे कि हम जापानी हमले से समूचे भारत की रक्षा नहीं कर सकते, क्रिप्स मिशन को विफल कर दिया, उससे यह आशा करना कि वह पार्लियामेण्टरी शक्ति के दबाव अथवा वैधानिक आन्दोलन से भारत की पूर्ण स्वाधीनता को स्वीकार कर लेगी दुराशामात्र है। साम्राज्यवादी अंग्रेज कैसी ही मीठी-मीठी बातें क्यों न करें, वे कैसे ही लुभावने वादे क्यों न करें, उनके इतिहास में उनकी मीठी बातों और उनके वादों के सही मूल्यों का निजी अनुभव होते हुए कोई भी समझदार भारतवासी उन पर भरोसा नहीं कर सकता और जब जी० डी० एच कोल जैसे नरम समाजवादी शास्त्रीय विवेचन द्वारा पार्लियामेण्टरी पद्धति की सीमाएँ तथा मौलिक प्रश्नों के हल करने में उसकी नपुंसकता सिद्ध करते हैं तथा जब इस पद्धति के विशेषज्ञों का यह कहना है कि इङ्गलैण्ड जैसे स्वाधीन देशों में समाजवादियों का बहुमत हो जाय तब भी पार्लियामेण्टरी व्यवस्थाओं द्वारा, उसकी धीमी और चक्कर-दार गति के कारण, समाजवाद की स्थापना करने वाले कानून पास होने में पचास बरस लग जावेंगे तब हिन्दुस्थान जैसे पराधीन देश में व्यवस्थापिका सभाओं के उपयोग से स्वाधीनता प्राप्त करने की बात कहना सही दिल और सही दिमाग का

परिचायक नहीं है। अपने पार्लियामेण्टरी प्रोग्राम में सफलता प्राप्त करने के लिए भी हमारे लिए यह लाजिमी होगा कि हम चौदह अङ्ग वाले रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा करें तथा देश की समस्त जनता को देश-व्यापी सामूहिक-सत्याग्रह के लिए तय्यार और सङ्गठित करें।

फासिस्टवाद पर तो विचार करना भी व्यर्थ है। उनके हिंसा-प्रेम और शक्ति-उपासना सम्बन्धी सिद्धान्तों का रुद्र रूप स्वयं उनके उद्देश्य को विफल कर देता है। वह संसार के लोकमत को उनके विरुद्ध कर देता है। मानव-हृदय क्रूरता के कीर्त्तिगान से स्वतः विरत हो जाता है। उनकी संकीर्ण और आक्रामक राष्ट्रीयता भी सहज ही दूसरे सभी राष्ट्रों को उनके विरुद्ध कर देती है। भारत जैसे आध्यात्मिक, शान्तिप्रिय और अहिंसाप्रेमी तथा वसुधैव कुटुम्बकम् का सिद्धान्त मानने वाले देशमें तो नात्सीवाद और फासिस्टवाद के सिद्धान्त कभी फैल ही नहीं सकते। लेखक ने अपनी 'गान्धीवाद और मार्क्सवाद" नाम की पुस्तक में इन चारों वादों का विशद वर्णन और तुलनात्मक विवेचन किया है। जो पाठक इनके सम्बन्ध में विशेष जानना चाहे वे उस पुस्तक को पढ़ सकते हैं। यहाँ तो इतना कह देना काफी होगा कि देश में जिन दलों और संस्थाओं का झुकाव हमने फासिस्टवाद की ओर बताया है वे इतनी परस्पर विरोधिनी हैं कि वे महाभारत की तरह अपने को तथा अपने देश को आपस में लड़ कर पूर्णतया नष्ट भले ही कर दें, भारत को स्वाधीन और भारतवासियों को सुखी तथा समृद्ध कदापि नहीं कर सकतीं।

यह असम्भव है कि खाकसार, मुस्लिम-लीग, हिन्दू महासभा और क्षत्रिय महासभा सभी मिल कर स्वदेश की स्वाधीनता के लिए ब्रिटिश साम्राज्यशाही जूझें। आज तक इनमें से एक ने भी ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध अपनी युद्ध-शक्ति अथवा युद्धालु मनोवृत्ति का भी परिचय नहीं दिया और जब कभी इन्होंने कांग्रेस की देखा देखी जोग साधा तो अपनी छीछालेदर ही कराई। इस महायुद्ध के समय जंगजू कौमों की वैठक तथा हिन्दू-महासभा दोनों ने भारत की स्वाधीनता के लिए गम्भीर क़दम उठाने की हिन्दू महासभा ने मार्च १६४१ में सीधी मार से काम लेने को घोषणा की लेकिन दोनों ही घोषणा करने के बाद ऐसी सौंठ हो गईं कि मानों उन्हें साँप सूँघ गया हो। खाकसार स्वयं-सेवक ही नहीं उनके सब से बड़े नेता अल्लामा मशक़री साहब तक जिस खुले दिल से ,माफ़ी माँगते फिरते हैं यह सभी को मालूम है। पंचतंत्र की शेरनी के शब्दों में कुछ हेर-फेर करके हम इन समस्त संस्थाओं के बारे में यही कह सकते हैं कि वे चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न हों जिस "कुल" में वे पैदा हुई हैं उसमें साम्राज्यों से लोहा नहीं लिया जाता। अभी तक तो ये सभी संस्थाएँ ब्रिटिश साम्राज्यशाही के हाथों में भारत की राष्ट्रीयता को काटने वाली कुलाड़ियों की बेंट ही सिद्ध हुई हैं।

अब रहा मार्क्सवाद। सो, एक तो मार्क्सवादी विचार-धारा स्वतः ही पाश्चात्य देशों की तीन विचार-धाराओं में पार्लियामेन्टरी और फासिस्तवाद के मुकाबिले में अच्छी और जन मन

हरणी थी दूसरे १६१७ की रूस की बोल्शेविक क्राँति ने उसकी प्रगति दिन दूनी और रात चौगुनी कर दी। यूरुप और अमेरिका के पूँजीवाद, पूँजीवादी लोकतन्त्र,साम्राज्यवाद और फासिस्ट-वाद के विरुद्ध, वहाँ के क्रूर शासक और स्वार्थी शोषक वर्ग के विरुद्ध वहाँ की जनता के पास मार्क्सवाद के अतिरिक्त और कोई अवलम्ब ही नहीं था। पूँजीवादी और उद्योग-वादी पाश्चात्य देशों के लिए, उन देशों के लिए जहाँ की आबादी मुख्यतः शहरी है तथा जहाँ शहरों में एकत्र मजदूरों की भारी बहुसंख्या है, मार्क्सवादी विचार धारा इस समय तक के लिए उपयुक्त भी थी। मार्क्सवाद शहरी मजदूरों का खासा अच्छा मजहब है। रूस की बोल्शेविकी क्रान्ति से समस्त पाश्चात्य देशों की शहरी मजदूर जनता को अपने त्राण और कल्याण की आशा बँधी और १६२२ तक यूरुप भर में जो उथल-पुथलें हुईं उनसे तो जन-क्रान्ति की सफलता का प्याला वहाँ की जनता के होठों में लगते लगते बचा। स्वभावतः इस सर्वोत्तम पाश्चात्य विचार-धारा की लहर हमारे देश में भी आई। रूस की सफल बोल्शेविकी क्रान्ति से और भी मोहनी होकर। उन दिनों स्वयं लेखक भी उस पर आसक्त हुआ। वह 'प्रताप' में बोलशेविज्म के गीत छापता था। उन्हीं दिनों उसने "साम्यवाद" पर एक पुस्तिका भी लिखी जो प्रताप प्रेस से प्रकाशित हुई। लेखक पर इस विचार-धारा का गहरा प्रभाव १६३४ के अन्त तक रहा। सोविएत रूस और तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय द्वारा विश्व-क्राति की घोषणा ने उसे स्वाधीनता संग्राम के सैनिकों के लिए प्राणाकर्षक

बना दिया। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के सैनिकों के सामने उस समय ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध एकमात्र सोविएत रूस ही आशा का प्रकाश स्तम्भ था। ब्रिटिश-विरोधी मनो-भावना ने जिस तरह इस महायुद्ध में भारतीय जन मत को जर्मनी और जापान की सफलता चाहने वाला तक बना दिया उसी ने उस समय भारतीय राष्ट्र-प्रेमियों के हृदय में सोविएत रूस के प्रति प्रेम उत्पन्न किया। हमारे कालेजों और विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य शिक्षा से ग्रस्त शिक्षित वर्ग की मनोवृत्ति सहज ही इस विचार धारा की ओर झुकी। पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे महात्मा गाँधी के बाद देश के सब से बड़े जन-प्रिय नेता तथा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त महान व्यक्तित्व ने इस विचार धारा का प्रचार अपनी समस्त असाधारण शक्ति के साथ किया और १६२० की पहली मुठभेड़ और १६३०–३२ के प्रदर्शनात्मक प्रथम सत्याग्रह संग्राम से तुरन्त पूर्ण स्वराज्य न मिलने के कारण स्वत्वश्रद्धा और अधीर मन के लोग नये नेता और नये कार्य-क्रम की खोज में इसी विचार धारा की शरण में गये। इन सब कारणों से मार्क्सवादी विचार-धारा का देश में काफी प्रचार हुआ। बहुत से फीसदी के हिसाब से अल्प संख्यक परन्तु संख्या के हिसाब से नगण्य नहीं, कांग्रेस कार्यकर्त्ता समाज-वादी, साम्य-वादी और ट्राटस्कीवादी तथा रायवादी तक हो गये। इसलिए हमें अब किधर का उत्तर देते हुए यह देखना है कि मार्क्सवाद क्यों नहीं।

मार्क्सवाद की विशद और विस्तृत आलोचना हमने

"गान्धी-वाद और मार्क्सवाद" में की है। इसकी कमियों और कमजोरियों की ओर कुछ संकेत ऊपर उसके प्रचार के कारणों के विश्लेषण के सिलसिले में आ चुका है फिर भी यहाँ मार्क्स-वाद क्यों नहीं का पर्याप्त उत्तर देना आवश्यक है।

मार्क्सवाद के बारे में सबसे पहली बात हमें यह जान लेनी चाहिये कि वह पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य संस्कृति की उपज है और यह सभ्यता तथा संस्कृति पूर्वी और एशियाई, विशेषतः भारतीय सभ्यता तथा भारतीय संस्कृति से भिन्न ही नहीं, बहुत हद तक उसके बिल्कुल ही विपरीत है। मार्क्सवाद अँग्रेजी अर्थ-शास्त्र, जर्मन शक्तिवाद और फ्रांसीसी साम्यवाद पर आधारित है। वह यूरुप की उन्नीसवीं सदी की आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितिओं से तथा तत्कालीन विचारों से पैदा हुआ है। यूरुप के तत्कालीन भौतिक-वाद, डार्विन के विकास-वाद, आदमस्मिथ और रिकार्डों जैसे आङ्गल अर्थशास्त्रियों के अर्थशास्त्र पर उसकी नींव पड़ी है। मार्क्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "दासकैपीटल" में यूरुप के उन्नीसवीं सदी के प्रथमार्द्ध के उद्योग-वाद की अमानुषिकताओं का जो ऐतिहासिक वर्णन किया है वह संसार के इतिहास में लगभग अनुपम है। पूँजीवादी और उद्योगवादी यूरोपीय समाज की बीमारी का, मार्क्स ने जो निदान किया है वह बहुत हद तक सही और लगभग अद्वितीय है, परन्तु मार्क्स की बताई हुई चिकित्सा पूर्ण और अचूक नहीं है। लेनिन ने उसमें कई नई बातें बढ़ाकर उसकी कई कमियां को दूर किया है और लेनिन तथा

स्तालिन दोनों ने बीसवीं सदी की परिवर्त्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए उसकी कायापलट कर डाली है। उसके बड़े से बड़े सिद्धान्तों को ताक पर रखने में तनिक भी हिच-किचाहट नहीं दिखाई है। इटली में फासिस्टवाद, जर्मनी में नात्सीवाद, ब्रिटेन में अनुदार-दल का प्रभुत्व १६२२ के बाद रूस को छोड़कर यूरुप के अन्य सब देशों में मार्क्सवाद की विफलता का अचूक ऐतिहासिक प्रमाण है। सोवियत रूस के वर्त्तमान रूप और तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय के भङ्ग किये जाने में तो स्वर्गीय प्रोफेसर ब्रजनारायण की इस उक्ति की सत्यता को प्रद-र्शित कर दिया कि "मार्क्सवाद मर गया और उसकी लाश सोवियत रूस में गहरी दफना दी गई।" यूरुप का बीसवीं सदी का विज्ञान, इतिहास, दर्शन और समाज-शास्त्र मार्क्सवाद का विरोधी है। इस बात को राल्फ फाक्स द्वारा अनूदित "मार्क्स-वाद और अर्वाचीन विचार" नामक पुस्तक में उस पुस्तक के लगभग सभी अधिकारी तथा विशेपज्ञ साम्यवादी लेखकों ने स्वीकार किया है।

मार्क्सवादी दर्शन, मार्क्सवादी अर्थ-शास्त्र, मार्क्सवादी-राजनीति और मार्क्सवादी समाज-शास्त्र मार्क्सवाद की चतुः सूची हैं। परन्तु इनका परस्पर एक दूसरे से अङ्गाङ्गी सम्बन्ध नहीं। वे एक दूसरे से अलग-अलग हैं। एक को मानने के लिए शेष को मानने की आवश्यकता नहीं होती। किसी एक को न मानकर भी आप मार्क्सवादी रह सकते हैं। अनेक मार्क्सवादी मार्क्स के अर्थ-शास्त्र को उसके अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को

नहीं मानते और इसी तरह बहुत से मार्क्सवादी मार्क्स के राज-नैतिक सिद्धान्त को, हिंसा द्वारा प्रोलोनेरियतों को डिक्टेटर शिप स्थापित करने के सिद्धान्त को और उस डिक्टेटरशिप द्वारा अन्त में श्रेणीहीन तथा राज-हीन पूर्ण साम्यवादी समाज की स्थापना के सिद्धान्त को नहीं मानते।

मार्क्सवाद के सम्बन्ध में दूसरी बात जो हमें ध्यान मे रखनी चाहिये वह यह है कि सभी साम्यवादी और समाजवादी मार्क्स वादी नहीं है। यानी साम्यवादी और समाजवादी होने के लिए भी यह आवश्यक नहीं है कि मार्क्सवाद का पट्टा गले में बाँधा जाय। साम्यवाद और समाजवाद कोई सर्वसम्मत वाद नहीं है। उसकी पचासों शाखा प्रशाखाएँ हैं जो एक दूसरे से भिन्न और कई बातों में एक दूसरे के विरुद्ध भी हैं। इनमें ओविन और सन्त साइमन का कल्पना-बिहारी समाजवाद, श्योलर और विस्मार्क का राज-समाजवाद, किंग्सले और मौरिस का ईसाई समाजवाद, मार्क्स और ऐंजिल्स का वैज्ञानिक समाजवाद, शा और वैब, को फैबियन समाजवाद वर्नस्टील का पुनरावृत्तिवाद, कोल और हाक्सन का Guild) गणसङ्घवाद, लेनिन और ट्राटस्की का बौल्शेविकवाद मुख्य है। एच.जी. वैल्स, कार्ल कौटस्की विलियम मौरिस और अनातोले फ्रांस के साम्यवाद इनसे भिन्न हैं।

वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से पुकारे जाने वाले मार्क्स-वाद भी कोई सर्व सम्मतवाद नहीं हैं। मार्क्सवादियों के भी कई दल हैं। जो अनेक महत्वपूर्ण बातों में एक दूसरे का विरोध करते हैं। समाजवादियों और साम्यवादियों का भेद तो प्रसिद्ध

ही है। साम्यवादियों में ट्राटस्कीवादी और स्टालिनवादी न केवल परस्पर विरोधी ही हैं बल्कि एक दूसरे के खून के प्यासे हैं।

मार्क्सवादी दर्शन द्वन्दात्मक भौतिकवाद अथवा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के नाम से प्रसिद्ध हैं। उसका आधार प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हैगल का निषेध का निषेध वाला सिद्धान्त है। अन्तर यह है कि हैगल भावों और विचारों को प्रगति प्रेरक मूल कारण मानता था। मार्क्स इसके बिल्कुल विपरीत भूत को प्रधान प्रेरक कारण मानता है। यहाँ तक कि उसका कहना है, कि भावों विचारों और आदर्शों की उत्पत्ति प्रेरक कारण भी मानव और मानव-समाज के वे अर्थोत्पादक प्रयत्न हैं जो वह अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए करता है। हैगल का द्वन्दात्मक प्रगतिवाद आदर्शवादी था मार्क्स का भौतिकवादी। मार्क्सवादी, मार्क्स के इस द्वन्दात्मक भौतिकवाद को वैज्ञानिक भौतिकवाद के नाम से पुकारते हैं। परन्तु चूँकि संसार के अन्य सभी विद्वान और विचारक वैज्ञानिकों के यान्त्रिक (Mechanical) भौतिकवाद को वैज्ञानिक भौतिकवाद का नाम देते हैं इसलिए हम मार्क्स के दर्शन को द्वन्दात्मक भौतिकवाद के नाम से ही पुकारेंगे। प्लेटो और मार्क्स का यह अन्तर भी यहाँ उल्लेखनीय है कि जहाँ अफलातू मानव आवश्यकताओं को मानव कार्यों का प्रेरक मानता था वहाँ मार्क्स इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाने वाले अर्थोत्पादन के प्रयत्नों को समस्त सामाजिक प्रगति का प्रेरक कारण

टी० ए० जैक्सन ने अपनी द्वन्द्वाद (Dialectes) नामक पुस्तक के बाईसवें पृष्ठ पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की यह परिभाषा की है कि, "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह भौतिक वाद है जो (क) आध्यात्मिक और आदर्श विज्ञान वादी धारणाओं को नहीं मानता, (ख) प्राकृतिक जगत को जिसमें मनुष्य भी शामिल है, विकसित होते हुए, स्वरूप-परिवर्तन की अनवरत घटनाओं को प्रवाह के रूप में स्वीकार करता है, (ग) और इसी लिए उसी तरह विकासशील तरीके पर अपनी विचार प्रक्रिया को बनाता है, वह सभी वस्तुओं की अनेकता में एकता देखता है तथा उनकी बहुपार्श्वता के एक दूसरे से भिन्न स्वरूपों की और उनके विकास सम्बन्धी बाहरी भीतरी परिणामांशों की दृष्टि से देखना चाहता है ।"

क्लिष्ट पारिभाषिक शब्दों से गढ़ी हुई इस परिभाषा में पाठकों के लिए इतना जान लेना काफी है कि मार्क्सवादी दर्शन भौतिकवादी है। वह सब प्रकार के अति भौतिकवाद को अध्यात्मवाद को अस्वीकार करता है। इसलिए हमें भौतिकवाद को देखना चाहिए। बीसवीं सदी के विचारकों ने भौतिकवाद के तीन भेद किये हैं, पुराण भौतिकवाद, वैज्ञानिक अथवा यांत्रिक भौतिकवाद तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। ये भौतिकवाद विज्ञान पर अवलम्बित हैं परन्तु विज्ञान ने पुराण भौतिकवाद को अमान्य ठहरा कर यांत्रिक भौतिकवाद को अपनाया और जब डार्विन के विकासवाद को बर्गसादि ने अपूर्ण सिद्ध कर दिया तब मार्क्स ने हैगल के द्वन्द्ववाद को उसमें मिला कर उसे

इस प्रश्न का उत्तर देने के योग्य बनाने का प्रयत्न किया कि जड़ से चैतन्य की सृष्टि कैसे हुई। परन्तु उन्नीसवीं सदी के विज्ञान की विश्व के विकास और वैदिक काल और कार्य-कारण सम्बन्ध की जिन धारणाओं के आधार पर मार्क्सवाद ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की नींव डाली वे विज्ञान के ज्ञान-भण्डार में बीसवीं सदी में जो वृद्धि हुई उनसे सर्वथा अमान्य सिद्ध हुईं। जी.एच. सैबाइन (Sabine) ने अपनी राजनैतिक सिद्धान्तों के इतिहास "A History of Political Theory" के ७२७ वें पृष्ठ पर लिखा है कि विज्ञान और तर्क शास्त्र दोनों का कहना है कि किसी भी प्रकार का द्वन्द्ववाद वास्तविक वैज्ञानिक प्रणाली नहीं है। आईस्टीन के सापेक्षवाद (Relativety Theory) ने सिद्ध किया कि दिक्काल दो भिन्न पदार्थ नहीं एक ही और संयुक्त हैं। विश्व के ऊँचाई लम्बाई-चौड़ाई ये तीन ही Dimentions नहीं है वह कालसमेत चार हैं। दिक् को उसने टेढ़ा Curvature सिद्ध किया। कूप मंडूक गति सिद्धान्त ने Quentom Theory उन्नीसवीं सदी का विश्व और अणु-परिणाम सम्बन्धी धारणा को और भी नष्ट कर दिया। ह्यूम ने यह सिद्ध कर दिया कि वैज्ञानिक नियमों का आधार कार्य कारण सम्बन्ध नहीं केवल घटनाओं का आगे-पीछे होना काकतालीय न्याय है। वैज्ञानिक नियमों में कोई अनिवार्यता नहीं है। बीसवीं सदी के भौतिक विज्ञानाचार्य स्वयं उन्नीसवीं सदी के भौतिकवाद को छोड़ बैठे और उनमें से सर जेम्स जीन प्रभृति अनेकों की प्रवृत्ति आदर्शवाद तथा अध्यात्मवाद की ओर हुई। मार्क्सवादी अपने

भौतिकवाद को वैज्ञानिक भौतिकवाद कहते हैं परन्तु विज्ञानाचार्यों का कहना है कि द्वन्दात्मक भौतिकवाद का विज्ञान से बहुत ही कम सम्बन्ध है। फ्यूरबाख Feurbach के शब्दों में "भौतिकवादी, वास्तविक जगत, प्रकृति और उसके इतिहास को उसी प्रकार ग्रहण करता है जैसी कि वह हर एक आदमी को मालूम होती है, जो कि विज्ञानवादी दार्शनिक कल्पनाओं की पूर्वधारणाओं से मुक्त हैं" परन्तु बीसवीं सदी का अर्वाचीन वैज्ञानिक और दार्शनिक विचार अति-भौतिक और आध्यात्मिक की सत्ता की सम्भावना को अस्वीकार करना बुद्धि-विरुद्ध मानता है। "दर्शन-पथ-प्रदर्शन" नामक पुस्तक के विद्वान् लेखक सी० ई० एम० जेड ने यह सिद्ध कर दिया है कि आधुनिक विज्ञानाचार्य यद्यपि इस विषय पर एक मत नहीं है कि यह विश्व कैसा है परन्तु इस बात पर एक मत हैं कि वह जैसा हमें इन्द्रियों से दिखाई देता है वैसा नहीं है। इस दार्शनिक विवेचन के लिए यहाँ स्थान न होने के कारण इतना कहना काफी होगा कि बीसवीं सदी का यूरूप का विज्ञान और दर्शन सभी प्रकार के भौतिकवाद को अपूर्ण पाकर विश्व के विकास और प्रगति की व्याख्या के लिए आदर्शवाद, अध्यात्म और वेदान्त की ओर झुकता है। स्वयं मार्क्सवाद जब याँत्रिक और भौतिकवाद को छोड़ कर द्वन्दात्मक भौतिकवाद का प्रतिपादन करता है तथा विकास का उद्देश श्रेणीहीन राज-हीन समाज बताता है तब वह सोद्देश हो जाता है और विश्व की कोई भी सोद्देश व्याख्या ईश्वर के बिना पूरी हो ही नहीं सकती।

"गीतामृत" में मैंने यह सिद्ध किया है कि विश्व के स्वरूप और उस के विकास की तथा समाज की प्रगति की प्रक्रिया को समझने के लिए विश्व और मनुष्य के सम्बन्ध में भगवत् गीता का सिद्धान्त आज ढाई हजार बरस बाद भी सर्वोत्तम है। और बीसवीं सदी की पाश्चात्य विचार-धारा भी इसी आध्यात्मिक प्रगतिवाद की ओर झुका ही है। सब प्रकार के भौतिकवाद अमान्य हैं। विश्व और समाज की प्रगति के नियमों को जानने के लिए भारत को किसी भी पाश्चात्यवाद को नहीं लेना, समस्त ससार को भारत से ही अध्यात्मिक प्रगतिवाद को लेना है। इस से हमें विकास के कैसे सर्वथा पूर्ण उत्तर मिल जाता है। सेन्द्रिय और निरेन्द्रिय सृष्टि के युगपत् होने के नियम से वर्गसां की वह आलोचना निरुत्तर हो जाती है, जिसका डार्विन के पास कोई बचाव नहीं है, उससे जड़भूत को गति कैसे मिली तथा जड़ से चैतन्य कैसे हुआ इत्यादि जिन प्रश्नों का कोई सर्वसम्मत और सन्तोपजनक उत्तर भौतिकवाद नहीं दे पाता उनका पूर्ण और सन्तोपजनक उत्तर मिल जाता है तथा विकास के उस क्यों का भो उत्तर मिल जाता है जहाँ विज्ञान की गति ही नहीं। द्वन्दात्मक भौतिकवाद सामाजिक प्रगति का एक मात्र प्रेरक, कारण, श्रेणी-द्वन्द्व, श्रेणी हीन समाज की स्थापना होने पर जब अस्तित्वहीन हो जायगा तब समाज की प्रगति कैसे होगी इसका मार्क्सवाद के पास कोई उत्तर नहीं है। अध्यात्मिक प्रगतिवाद, गीता और वेदान्त में यह कठिनाई भी नहीं है। इन सब बातों के कारण गीता और वेदान्त का भारत, अध्यात्म-वादी भारत, मार्क्सवादी दर्शन को कदापि

ग्रहण नहीं कर सकता। ऐसा कौन मूर्ख है जो दमकते हुए कुन्दन को छोड़ कर प्रत्यक्ष काला दीखने वाले मुलम्मे के पीछे दौड़ेगा ?

अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से मार्क्सवादी अर्थशास्त्र कोई महत्व नहीं रखता। संसार के लगभग सभी अधिकारी अर्थशास्त्राचार्य उसे अस्वीकार करते हैं। जहाँ तक इस बात से सम्बन्ध है कि पूँजीवाद और उद्योगवाद की नींव स्वार्थवृत्ति, घृणित स्वार्थ-वृत्ति, अर्थ-प्रेम और लाभ की आकांक्षा तथा मजदूर वर्ग के शोषण पर है वहां तक किसी को कोई आपत्ति नहीं। परन्तु इसे मानने के लिए और इससे शोषित जन-वर्ग का त्राण करने के लिए मार्क्स के, अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को मानना कतई आवश्यक नहीं है। अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में मार्क्स ने मूल्य शब्द का प्रयोग बड़ी शिथिलता के साथ किया है। उसे आलोचना से बचाने के लिए उसके समर्थकों तक को यह मानना पड़ा है कि उपयोग—मूल्य और विनिमय-मूल्य में गड़बड़ की गई है। मार्क्सवाद के इसी अंश पर एच० जी० वेल्स की यह आलोचना सब से अधिक लागू होती है कि मार्क्स ने शब्दों के प्रयोग में बड़ी अस्पष्टता और शिथिलता से काम लिया है। सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी भी मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत को अस्वीकार करते हैं और उसे अस्वीकार करने पर मार्क्स के अर्थ-शास्त्र में कोई विशेषता नहीं रह जाती।

असल में, जैसा पहले कहा जा चुका है, मार्क्स का अर्थशास्त्र आङ्गल अर्थ-शास्त्र, आदम स्मिथ और रिकार्डो के अर्थ-शास्त्र पर आधारित है। बीसवीं सदी के पाश्चात्य अर्थशास्त्री इस पुराण

अर्थशास्त्र की बहुत-सी मान्यताओं को छोड़ते जा रहे हैं। उसकी 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना वैसी ही निराधार सिद्ध हुई है, जैसी चन्द्रलोक के मनुष्य की। मानव-विज्ञानाचार्यों का कहना है कि ह्रॉब्रियान्ड द्वीप समूह की तथा निकोबार आदि की कई जातियाँ ऐसी हैं जिनके सदस्य आर्थिक लाभ के लिए काम न करके केवल कार्यानन्द तथा सेवानन्द से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। बीसवीं सदी के समाज-शास्त्री और मनोविज्ञानाचार्य अब शहरों की और बड़े-बड़े कारखानों की भी कोई आवश्यकता नहीं समझते। पूँजीवाद की दो नई प्रगतियाँ मार्क्सवाद के सर्वथा विरुद्ध पड़ रही हैं। इसमें एक का नाम है प्रबन्धकों की क्रान्ति (Monagerial Revolution) इसके फलस्वरूप शक्ति पूँजीपतियों के हाथ में न होकर प्रबन्धक वर्ग से नौकरशाही के हाथ में पहुँच गई है। लिमीटेड कम्पनियों में शेयरहोल्डरों और डाइरैक्टरों की नहीं मैनेजिङ्ग एजेन्टों व अन्य कुञ्जी स्थानों पर स्थित कर्मचारियों की चलती है। मार्क्सवादी स्वामित्व और नियन्त्रण के इस अन्तरभेद को भुला देते हैं। सोविएत सरकार तक को इन विशेषज्ञों के सामने सर झुकाना पड़ता है! उन्हें बेतहाशा वेतन देना पड़ता है। दूसरी यह कि पूँजीवाद की वृद्धि सर्वहारा वर्ग की वृद्धि और शेष सब वर्गों के ह्रास के सम्बन्ध में मार्क्स का काल्पनिक स्वप्न भङ्ग हो गया है। इङ्गलैण्ड, अमेरिका और रूस तक में मध्य-वर्ग की वृद्धि हुई है, नौकरशाही की संख्या बेहद बढ़ी है, और किसानों की संख्या तथा शक्ति भी उतनी कम नहीं हुई है जितनी मार्क्सवादी चाहते

मार्क्सवादी अर्थशास्त्री की दो खास खराबियाँ और उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि तत्वतः पूँजीवाद और मार्क्सवाद में इस सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं। मार्क्सवाद का कहना है कि यदि उत्पत्ति के साधन पूँजीवादी वर्ग के हाथ से निकल कर प्रोलोतेरिएत (कम्यूनिस्टों) के हाथ में आ जायें तो उत्पादन बड़े पैमाने पर पूँजीवादी ढङ्ग से ही होना चाहिये। यानी यह कि मार्क्सवादी केवल शक्ति-परिवर्तन नहीं चाहते। दूसरे यह कि पूँजीवादियों से भी अधिक मार्क्सवादी अर्थ को ही सब कुछ समझते हैं। वे अर्थ को ही समाज की समस्त प्रगति का पहले एक मात्र और अब प्रधान कारण मानते हैं। यूरुप में मनोविज्ञानाचार्य फ्रायड इससे विरुद्ध 'काम' को ही समस्त प्रगति का कारण समझते हैं और उनके एक सुप्रसिद्ध शिष्य एडलर शक्ति ग्रहण-आकांक्षा को यह स्थान देते हैं। स्पष्ट है कि मार्क्सवादियों का यह कथन सर्वथा एकांकी और अति-विश्वास स्वरूपी है। इन दोनों बातों में मार्क्सवाद और पूँजीवाद में पारिवारिक समता है।

मार्क्सवादी राजनीति के मुख्य अङ्ग हैं, (१) श्रेणी द्वन्द अथवा वर्ग संघर्ष, (२) हिंसा द्वारा ही शक्ति हस्तगत होने में विश्वास, (३) सर्वहाराओं की डिक्टेटरशिप अथवा कम्यूनिस्ट तानाशाही। मार्क्सवादियों को श्रेणी-द्वन्द अथवा वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी सिद्धान्त उनके द्वन्दवाद का अंश है। प्रथम कम्यूनिस्ट मैनोफैस्टो में मार्क्स ने तो यह लिखा था कि यह श्रेणी-संघर्ष मानव-समाज के साथ-साथ उत्पन्न हुआ परन्तु ऐंगिल्स ने पीछे

से उसमें यह बढ़ा दिया कि प्रगैतिहास समाज को, उस आदिम समाज को छोड़ कर जब लोग सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे। मार्क्स का कहना है कि पहले सामन्त लोग जनता का शोषण करते थे परन्तु उनके और जनता के श्रेणी संघर्ष से नए वर्ग, बुजुर्आ-वर्ग की सृष्टि हुई और इस बुजुर्आ-वर्ग से सर्वहारा वर्ग की। यही सर्वहारा वर्ग प्रगति की इस प्राकृतिक प्रक्रियानुसार बुजुर्आ अथवा पूँजीपति वर्ग को नष्ट करेगा। मार्क्स के शब्दों में पूँजीपति वर्ग स्वयं ही अपनी कब्र खोदने वाले वर्ग को उत्पन्न कर रहा है। समाज में आर्थिक विषमता और आर्थिक शोषण है, हर हालत में इस स्वार्थमय शोषण का अन्त होना चाहिये इन बातों से कोई विचार-शील व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता परन्तु पूँजीवाद और शोषण का विरोधी होने तथा उसका अन्त करने के लिए मार्क्सवादी होना कतई आवश्यक नहीं है। १६४५ में विचारशील लोग यह प्रत्यक्ष अनुभव करने लगे हैं कि पूँजीवाद और शोषण का अन्त करने के लिए गान्धीवाद, महात्माजी का चरखा-शास्त्र, उनका ग्राम्य अर्थशास्त्र, उनकी घरेलू-धन्धों की योजना कहीं अधिक सुकर तथा सफल उपाय हैं। पश्चिम का इङ्गलैंड, अमेरिका और रूस का पिछले बीस बरस का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बड़े पैमाने पर माल उत्पादन करने का एक भयानक कुपरिणाम यह हुआ है कि मार्क्स की आशा के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग की वृद्धि होने के बजाय मध्यवर्ग और नौकरशाही वर्ग की वृद्धि हो रही है. किसान ही नहीं मज़दूर भी क्रान्तिकारी होने के

बजाय क्रान्ति-विरोधी होते जा रहे हैं। मध्य-वर्ग, किसान, निम्न-वर्ग और मजदूर लोग सर्वहारा होने के बदले सवहारा बुर्जुआ होते जा रहे हैं। रूस तक में मध्य-वर्ग और नौकरशाही वर्ग की वृद्धि हो रही है। सोवियट रूस में आधी राष्ट्रीय आय ग्यारह-बारह फीसदी लोगों की जेबों मं पहुँचती है। बीकी ८८ फीसदी को शेप आधी पर सन्तोष करना पड़ता है। इतना ही नहीं सोवियट, रूस और उसका शासक-वर्ग राष्ट्रवादी और बुर्जुआ होता जा रहा है। इङ्गलैण्ड के मज़दूर साम्राज्य-वादियों की और अमेरिका की कम्यूनिस्ट पार्टी पूँजीवादियों की कान पकड़ी छेरी हो गई है। जैड साहब का कहना है कि सामन्तशाही और पूँजीवादी-वर्ग में ऐसा कोई मौलिक भेद तथा हित-विरोध भी नहीं है। इगलैंड में आज तक बड़े-बड़े जमीदारों का दौर-दौरा है।

मार्क्सवादी कहते हैं कि पूँजीपति-वर्ग के हाथ से शक्ति हाथ में लेने के लिए, उनके शोषण का अन्त करने के लिए, उत्पादन के साधनों को उनके हाथ से छीन कर उनका राष्ट्रीकरण करने के लिए हिंसा अनिवार्य है। बिना हिंसा के शक्ति हस्तान्तरित नहीं हो सकेगी। पिछली कई शताब्दियों से समाज-वादियों द्वारा हिंसा की आलोचना और हिंसा के विरुद्ध ऐतिहासिक घटनाओं के घटा-टोप को देखकर तथा हिंसा के प्रति समाज की अन्य प्रतिक्रिया देख कर अब वे कहने लगे हैं कि हिंसा हम नहीं करेंगे लेकिन कब जनमत अथवा जन-साधारण पूँजीपति वर्ग की उनके विशेषाधिकारों और शोषण के

साधनों से किसी और तरीक़े से वञ्चित करने लगेंगे तब पूँजी-पति वर्ग हिंसा से काम लेगा और सर्वहारावर्ग का विवश होकर अपनी रक्षा तथा उद्देश-सिद्धि के लिए हिंसा से काम लेना अनिवार्य हो जायगा। इससे पहले मार्क्स का कहना था कि सामाजिक प्रगति की प्रक्रिया में हिंसा प्राचीन समाज के गर्भ से अभिनव समाज को जनाने वाली दाई का काम करती है। लेनिन का कहना था कि बुरजुओई राज की जगह प्रोलीतेरिएत राज की स्थापना हिंसात्मक क्रान्ति के बिना असम्भव है। परन्तु इसके प्रतिकूल आधुनिक विचारकों का कहना है कि हिंसा से, अधिक हिंसा उत्पन्न होने के सिवा और कुछ नहीं होता। उसकी सफलता आकर भी तथा उसकी प्रतिक्रिया प्रतिकूल होती है। रूस में जार की हिंसा से बोल्शेविकी हिंसा की उत्पत्ति हुई और कम्यूनिस्टों की हिंसा से यूरुप में फासिस्ट तथा नात्सी हिंसा की उत्पत्ति हुई। नात्सी हिंसा से सारा संसार दूसरे विश्वव्यापी महायुद्ध के रूप में हिंसात्मक संहार तथा सर्वनाश का शिकार हुआ। पिछले महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की हिंसा ने जर्मनी की हिंसा पर विजय पाई थी परन्तु वह विजय कितनी क्षणस्थायी सिद्ध हुई? इस महायुद्ध की समाप्ति के पहिले से ही तीसरे महा-युद्ध की चर्चा होने लगी है। इसके अलावा नाम-रूप का परि-वर्तन केवल मायिक परिवर्तन सिद्ध होता है, वह तात्त्विक नहीं होता। उससे किसी को कोई लाभ नहीं होता। केवल शासक और शोषक बदलते हैं; शासन और शोषण बन्द नहीं होता। उदाहरणार्थ इङ्गलैंड में मागनाकार्टा से बादशाह का प्रभुत्व कम

हुआ तो बैरनों-सामन्तों का प्रभुत्व बढ़ गया। पोप की दासता मिटी तो बादशाह की दासता बढ़ गई। सामन्तों का प्रभुत्व कम हुआ तो बुर्जुआ वर्ग का प्रभुत्व बढ़ गया और वहाँ कभी प्रोलीतेरिएत वर्ग की डिक्टेटरशिप कायम हुई तो बुर्जुआ वर्ग के शासन की जगह इनके शासन की स्थापना हो जायगी। इसके अतिरिक्त हिंसा द्वारा राज-क्रान्ति सम्भव नहीं है। स्वयं लैलिन और स्टालिन ने कई बार स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि रूस की राज्य-क्रान्ति कई विशेष तथा असाधारण घटनाओं के कारण सम्भव हुई। बाकी इन दिनों विज्ञान के आविष्कारों की कृपा से इतनी अधिक संहारक शक्ति शासक और शोषक वर्ग के हाथ में आ गई है कि हिंसात्मक जन-क्रान्ति की सफलता की कल्पना तक करना असम्भव हो गया है। लोड का कहना है कि यदि पैदल सेना जन-वर्ग से मिल जाय तब भी हवाई जहाजों के कारण हिंसात्मक क्रान्ति सम्भव नहीं। और हवाई जहाज के चालक उस वर्ग से भरती किये जाते हैं जो सर्वहारा-वर्ग का विरोधी होता है।

मार्क्सवादी राजनीति की तीसरी बात—प्रोलीतेरिएत डिक्टेटरशिप का भी यही हाल है। लैनिन ने स्पष्ट शब्दों में खुल्लम-खुल्ला यह कहा है कि यह डिक्टेटरशिप लोकतन्त्र और नागरिक स्वाधीनता की स्थापना के लिए काम में नहीं लाई जायगी बल्कि विरोधी वर्गों को निर्दयता पूर्वक कुचल देने के लिये। एक तो इस एक वर्षीय डिक्टेटरशिप के कारण दूसरे सब वर्ग साम्यवाद और समाज-वाद के विरोधी तथा उनके शत्रुओं के साथी हो

जाते हैं। अपनी इस खराबी को दूर करने के लिए ही कम्यूनिस्टों को लोकप्रिय मोर्चे, संयुक्तमोर्चे और राष्ट्रीय मोर्चे आदि की सृष्टि करनी पड़ी। दूसरे, मार्क्सवादियों के ऐसे उग्र सिद्धान्तों से डर कर स्वयं मजदूर-वर्ग तक अनुदार दलों का समर्थन करने लगते हैं जैसा कि इङ्गलैण्ड के इतिहास से प्रत्यक्ष है। दूसरे सिद्धान्ततः और तर्क तथा विवेक से यह बात समझ में नहीं आती कि बबूल में आम कैसे लगेंगे? एकवर्गीय डिक्टेटरशिप से श्रेणी तथा शासनहीन समाज की स्थापना कैसे होगी? हिंसा और वर्गीय डिक्टेटरशिप के मार्ग से सम्भावना तो सभ्यता के विनाश और स्थायी डिक्टेटरशिप के होने की है। मार्क्स-लैनिन प्रभृति का कहना है कि सर्वहाराओं की डिक्टेटरशिप कालान्तर में अपने आप मुरझा जायगी, पतझड़ की तरह झड़ जायगी। लेकिन अभी तक सोवियत रूस में लगभग तीस बरस के बाद भी उसके झड़ने की कोई सम्भावना दिखाई देना तो दूर उसके स्थायी होने के चिन्ह स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। मार्क्सवाद का यह भाग बहुत ही अस्पष्ट।

और श्रेणी-हीन तथा शासन-हीन समाज की स्थापना वाला भाग इससे ही अधिक अस्पष्ट। मार्क्स-लैनिन आदि किसी ने भी इस विषय पर विस्तृत प्रकाश नहीं डाला सब के सब केवल इच्छाइङ्गित मात्र कर के रह गये हैं। मार्क्सवाद का यह भाग पूर्णतया कल्पना-विहारी कपोल-कल्पित सा है। यद्यपि मार्क्सवाद कल्पना-विहारी साम्यवाद के विरुद्ध होने का दावा करता है।

यूरुप और अमेरिका में पिछले बीस बरसों में लगभग सर्वत्र ही मार्क्सवाद को विफलता का सामना करना पड़ा है। रशल के कथनानुसार उसे सफलता मिली है तो केवल इस बात में कि उसने उदारवाद को नष्ट कर के घोर प्रतिक्रियावादियों की शक्ति बढ़ाई है। उनका कहना है कि यूरुप में रूस को छोड़ कर लगभग सर्वत्र मार्क्सवादी सभी सिद्धान्त गलत और बेकार साबित हुए हैं। आज सौ बरस में भी मार्क्सवाद कहीं भी साम्यवाद की स्थापना नहीं कर सका और एक रूस को छोड़ कर सर्वहाराओं की डिक्टेटरशिप भी वह कहीं नहीं कायम कर सका। उसके विश्वक्रान्ति से सब सुख-स्वप्न खोटे-स्वप्न सिद्ध हुए। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय भी भङ्ग हो गई। अमेरिका की कम्यूनिस्ट पार्टी सरे आम वहाँ के, संसार में सब से अधिक विकसित और शक्तिशाली पूँजीवाद का समर्थन कर रही है। स्वयं रूस आज संसार के सब से बड़े और सब से बुरे साम्राज्यवादी देश ब्रिटेन का तथा सब से बड़े पूँजीवादी देश अमेरिका का दोस्त और सहायक बना हुआ है। सोवियत रूस की आलोचना और उसके वर्तमान स्वरूप का वर्णन करने के लिए एक स्वतंत्र पुस्तक नहीं तो कम से कम एक अध्याय अवश्य चाहिये। इस विषय पर अङ्गरेजी में पचासों पुस्तकें हैं, संसार के प्रसिद्ध से प्रसिद्ध विद्वानों और जाने-माने हुए समाजवादियों तथा मार्क्सवादियों द्वारा लिखी हुई। यहाँ हम महात्मागान्धी के शब्दों में केवल इतना कहकर बस करेंगे कि आज का रूस लैनिन का रूस नहीं है और न स्टालिन लैनिन है। विज्ञान, इतिहास, दर्शन,

अर्थ-शास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान सब की दृष्टि से मार्क्सवादी-संसार अर्वाचीन विचार धारा से दशाब्दियों पीछे है। मार्क्स की यह आशा और भविष्यवाणी भ्रमात्मक सिद्ध हो रही है कि पूँजीवाद का ढेर हो जायगा। बल्कि कार्ल कौटस्की का यह कथन सच सिद्ध हुआ है कि पूँजीवाद रूप परिवर्त्तित करके अपने जीवन के दिन बढ़ा लेगा।

लेनिन की घोषणा थी कि हर क्रान्तिकारी पार्टी को जब उस देश की प्रतिक्रियावादी सरकार किसी साम्राज्यवादी युद्ध में लगी हो तब अपने देश की हार माननी चाहिये, क्रान्ति और लोकतन्त्र के लिये उसकी हार के लिए प्रयत्न करना चाहिये, वहाँ गृह-कलह मचानी चाहिये। पिछले महायुद्ध में लेनिन जर्मनी के मुकाबिले में अपने देश रूस की हार चाहता था और उसके लिए प्रयत्न करता था परन्तु आज की हिन्दुस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी ने इस साम्राज्यवादी युद्ध को न केवल लोक-युद्ध ही करार दिया बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य शाही के हाथों बिक कर युद्धोद्योग में पूरी पूरी मदद की और १९४२ के स्वाधीनता-संग्राम में में सी० आई० डी० का काम किया तथा क्रूर शासकों को राक्षसी दमन के लिए उकसाया।

दो और भी अत्यन्त प्रबल कारणों से मार्क्सवाद सफल नहीं हो सकता—विशेष कर भारत में। ये दो कारण हैं, मार्क्सवाद का धर्म-विरोधी तथा किसान-विरोधी होना और हिन्दुस्तान का धर्म-प्राण तथा किसानिस्तान होना। मार्क्सवादी धर्म और ईश्वर दोनों को ही धता बताते हैं। वे भूत, बुद्धि और

विज्ञान के आगे आत्मा-परमात्मा अन्तर्दृष्टि तथा अतीन्द्रिय शक्तियों के अस्तित्व तक को नहीं मानते। वे भूतबुद्धि, तर्क-विज्ञान की सीमाओं को स्वीकार नहीं करते। मार्क्स ने हिन्दू-धर्म की निन्दा करते हुए महावीर हनुमानजी का मज़ाक उड़ाया और हिन्दुस्तान के इस धर्म तथा किसान-समाज, कृषि-सभ्यता को नष्ट करने के लिए ब्रिटिश-राज की प्रशंसा की, उसका समर्थन किया। मार्क्स, सामन्तशाही के नाम पर किसानों की ग्रामों की सभ्यता को और उद्योग-धन्धों को नष्ट करने के लिए पूँजीवाद का स्वागत करता है, उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता बताते हैं तथा उसे क्रान्तिकारी घोषित करते हैं। हमारे देश के मार्क्सवादी हमारे धर्म, हमारे कवि-शिरोमणि और हमारे ऋषि-मुनियों की, हमारे वेदों की, हमारे पूर्वजों की बाबत क्या राय रखते हैं, सो सुनिये—उनकी राय शरीफ में भगवान राम और कृष्ण किसानों का खून चूसने वाले सामन्त थे। हमारे ऋषि और पुरोहित राजाओं के पास अपनी तरुण पोतियों और पर-पोतियों को भेजते थे और राज का प्रादेशिक सामन्त अपनी कुमारियों को। पुनर्जन्म और ब्रह्मवाद आदि सिद्धान्त की सृष्टि जान-बूझ कर लोगों को धोका देने के लिए की गई थी। वशिष्ठ और विश्वामित्र ने पेट के लिए ही वेद रचे। याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मवादी, राजाओं के अन्तःपुर में पली दासियों को विशेष तौर से पसन्द करते थे। उनका धर्म भोग-अर्जन का बड़ा रास्ता था। ब्रह्मवाद सिर्फ मन की कलाबाजी नहीं, उसके पीछे राजाओं और ब्राह्मणों का बड़ा भारी स्वार्थ छिपा हुआ है। यह ब्राह्मण-

वाद, यज्ञवाद सब सारा ढोंग, पूरी वंचना, प्रजा की मशक्कत की कमाई को मुफ्त में खाने का तरीका है। 'सांकृत्य ब्राह्मण सूअर खाते थे। हमारा धर्म निरा ढोंग था, परधन अपहारकों को शान्ति से परधन उपयोग करने का अवसर देने के लिए— हमारे पूर्वज ऋषि गो-रक्षा करते थे, गो-भक्षण के लिए ब्राह्मणों और राजाओं से बढ़कर दुनिया में कोई पाखण्डी नहीं हो सकता। पुरोहितों की दुकानों इन मन्दिरों में ताला लगाना चाहिए—पुरानी पोथियों, अमीरों के टुकड़ों से पलने वाले सन्तों की वाणियों को यदि आग में नहीं जलाते तो सात तालों में बन्द करें। वर्ण-व्यवस्था, मरण व्यवस्था का भारत में नाम नहीं रहने देना चाहिये। सारी बातें ठीक हो जावें यदि, धर्म भगवान पुराण, संहिता हमारा पिण्ड छोड़ दें। जब तक गान्धीजी जैसे इसके पोषक मौजूद हैं तब तक यह नहीं हो सकता। कालिदास ने राजाओं की चापलूसी की। इनकी राय शरीफ में चरखा-करघा शोषण की असली दवा साम्यवाद के रास्ते में भारी बाधक हैं। और हवाई जहाजों से मानवता की असीम उन्नति हुई है।

हमारा विश्वास है कि अब तक मार्क्सवाद के सम्बन्ध में जितना कम से कम लिखा गया है उसके बाद किसी को यह पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि मार्क्सवाद क्यों नहीं? मार्क्सवाद किसानों का कितना विरोधी है इसका पूरा वर्णन हमारी लिखी "किसान-राज की पञ्चवर्षीय योजना" में है और हमारे देश में अभी कारखाने के मज़दूरों की संख्या दस फीसदी भी नहीं। अर्नेस्टहण्ट जैसे मनोविज्ञानाचार्य की सम्मति है कि

आधुनिक समाज की सुव्यवस्था का काम केवल समाजवाद से नहीं चल सकता। अन्य अनेक दार्शनिकों का मत है कि समाज की समस्या केवल भौतिक नहीं मुख्यतः आध्यात्मिक है।

अब हमारे पास सिवा गान्धीवाद के और कोई चारा ही नहीं रह जाता और इसलिए हमें गान्धीवाद ही क्यों? इस प्रश्न का विस्तार पूर्वक उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है। किसी भी वाद-मार्ग और सिद्धान्त-समूह अथवा विचारावली की सत्यता और उपयोगिता इस बात में है कि वह विश्व के विकास की प्रक्रिया तथा देश कालावस्था के कितनी अनुकूल है तथा तात्कालिक व्यवहार मे वह कितनी फलप्रद सिद्ध होती है।

इस प्रकार की समस्त कसौटियों पर कसे जाने पर गान्धीवाद के आध्यात्मिक, वैज्ञानिक और व्यावहारिक गान्धीवाद सोलहो आने खरा उतरता है। वह भारत की सभ्यता और संस्कृति, उसकी परम्परा और उसके इतिहास, उसकी प्रतिभा तथा उसकी अन्तरात्मा, उसकी भूमि, उसके जलवायु तथा उसकी देश-कालावस्था के सर्वथा अनुकूल है। महात्मा गान्धी में भारतीय राष्ट्र की अन्तरात्मा मूर्त्तिवती हुई है। उनमें भारतवासियों की नब्ज पहचानने की कुछ ऐसी अलौकिक शक्ति है, एक पाश्चात्य विद्वान् के शब्दों में उनके कान भारतीय भूमि की वाणी सुन और समझ लेते हैं कि भारतीय रोगों के लिए उनका निदान ही नहीं उनकी चिकित्सा भी, देखने में कितनी ही विचित्र और अटपटी मालूम होने पर भी अन्त में सही और सफल सिद्ध होती है। यही कारण है कि यद्यपि भारत में गान्धी-

वाद का और मार्क्सवाद का प्रचार लगभग साथ साथ ही प्रारम्भ हुआ और मार्क्सवाद को रूस का पूरा पूरा राज्याश्रय-धन-बल भी प्राप्त था फिर भी मार्क्सवाद यहाँ पचास वरस में उसका दशांश भी लोक-प्रिय नहीं हो पाया जितना गान्धीवाद एक ही साल में हो गया। जब महात्मा गान्धी ने अहिंसा, असहयोग और सत्याग्रह का सन्देश दिया था तब सभी उसकी हँसी उड़ाते थे। लाल, बाल और पाल लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, बाबू विपिनचन्द्र पाल ने इनका विरोध किया तथा देशबन्धुदास, पण्डित मोतीलाल नेहरू प्रभृति ने भी परन्तु आज केवल राष्ट्रीय महा सभा ही नहीं समस्त देश इन्हीं तीनों महामन्त्रों का जप कर रहा है और यह विश्वास करता है कि उनके सिद्ध होने पर सफलता निश्चित है। यही हाल गान्धीजी के चरखे और ग्रामोद्योग के सन्देश का हुआ। आज भारत के बड़े से बड़े अर्थ-शास्त्राचार्य चरखे और ग्रामोद्योग की तथा ग्राम्य-अर्थ-शास्त्र की मान्यता प्रतिपादित करते हैं। और यूरुप तथा अमेरिका के अनेक विद्वान अर्थ-शास्त्री तथा मनोविज्ञानाचार्य घरेलू-धन्धों और गाँवों को वापस जाने का समर्थन कर रहे हैं। महात्मा गान्धी देश के सामने जब उसकी विकट समस्याओं का सर्वथा नया और मौलिक हल रखते हैं तब बड़े बड़े दिमाग़ घबड़ा जाते हैं लेकिन अन्त में वे अपनी ग़लती मन्जूर करते फिरते हैं। एक उदाहरण १९३० में जब महात्मा गान्धी ने नमक सत्याग्रह प्रारम्भ किया था तब स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू तक उसकी सफलता

में सन्देह करते थे परन्तु अन्त में सारे संसार के साथ उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया कि वह सर्वथा सफल तथा कारगर सिद्ध हुआ।

प्रोफेसर ह्वाइटहैड जैसे आधुनिक युग के सब से अधिक साम्मान्य दार्शनिक अहिंसात्मक सत्याग्रह की अमोघता को स्वीकार करते हैं तथा उसके सामने सर झुकाते हैं! सर माल्कम हेली जैसे अद्वितीय तीव्र-बुद्धि साम्राज्यवादी और प्रोफेसर कूपलैण्ड जैसे विद्वान साम्राज्यवादी सरे आम यह कहते हैं कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद और ब्रिटिश-शासन के लिए अहिंसात्मक सत्याग्रह अथवा भद्रावज्ञा हिंसात्मक क्रान्ति, तथा किसान और मजदूर क्रान्ति से कहीं अधिक शक्तिशाली और भयावह है। ग्राम-स्वराज्यों पर आधारित गान्धीवादी शासन में, किसान-राज में नौकरशाही की शक्ति के नियन्त्रण की वह समस्या भी स्वतः हल हो जाती है, जिसे पाश्चात्य विचारक अभी तक हल नहीं कर पाये।

इन सब बातों के होते हुए "अब किधर" का एक ही उत्तर है, गान्धीजी के नेतृत्व में, वे कहें उधर, जिधर अब तक चल रहे थे उधर! १६४२ के संग्राम के बाद तो नीर और क्षीर, दूध और पानी अलग-अलग हो गया है। महात्माजी के नेतृत्व और कार्यक्रम की जगह जितने भी नए नेता और नए कार्यक्रम खोजे गये वे सब के सब बिना किसी अपवाद के खोटे साबित हुए। महात्मा गान्धीजी के नेतृत्व और कार्य-क्रम की जगह अपना नेतृत्व और कार्य-क्रम पेश करने वाले

कामरेड एम० एन० राय कुछ हजार महावार पर ब्रिटिश-साम्राज्यशाहीं और भारतीय नौकरशाही के हाथों में बिक गये। कम्यूनिस्ट लोक-युद्ध के हामी, युद्धोद्योगों के सहायक, स्वाधीनता संग्राम के शत्रु और राक्षसी दमन के समर्थक तथा उत्तेजक साबित हुए। किसान-सभा टूटी हुई तलवार साबित हुई। उसके कई टुकड़े देश के सामने आये। फारवर्ड ब्लाक की जो दशा हुई वह सभी को मालूम है। एक कांग्रेस समाजवादी दल बचा; लेकिन वह बचा महात्मा गांधीजी के नेतृत्व को स्वीकार कर के। उनकी छत्रछाया मिलने पर, उनकी शरण लेने पर। हर्ष और सन्तोष की बात है कि आज इस दल के अनेक प्रखर और उत्कट देशभक्त नेता जो १९३४ के प्रवाह में बह कर बहके और भटके थे, अनेक अग्रगामी, वामपक्षी और क्रान्तिकारियों के साथ गांधीजी के एक छत्र नेतृत्व और उनके कार्य-क्रम की असीम और अमोघ कार्यकारिणी शक्तियों का अनुभव कर रहे हैं और खुल्लम-खुल्ला मान रहे हैं, अपने दल को भङ्ग कर के महात्माजी के कारगर और क्रान्तिकारी नेतृत्व में कांग्रेस में शीरो-शकर की तरह हिल-मिल जाने की बात हवा का यह रुख, समय की यह गति "अब किधर को यही उत्तर दे रही है कि जिधर गांधी कहे उधर, जिधर गांधी चले उधर।

नई कांग्रेस : नया कार्यक्रम

१९४२ के तूफान में पुरानी कांग्रेस मर गई। उस स्वाधीनता संग्राम के अमर शहीदों के पवित्र रक्त से नई कांग्रेस का जन्म हुआ है। कांग्रेस में नये रक्त और नवजीवन का संचार हुआ है। हमारे स्वाधीनता संग्राम के नये युग का और राष्ट्र में नई भावना का उदय हुआ है। भारतीय स्वाधीनता का प्रश्न विचार जगत में दिग्विजय प्राप्त करके व्यावहारिक राजनीति की अन्तिम अवस्था में पहुँच गया है। अब मुस्लिम लीग, परिगणित जातियाँ, सिक्ख, ईसाई प्रभृति अल्पसंख्यक जातियों तथा जंगजू कौमें ही नहीं अमेरी और कूपलैण्ड तक को यह कहना पड़ता है कि भारतीय स्वाधीनता के सम्बन्ध में अब ब्रिटेन और भारत में कोई मतभेद नहीं है, इस बात में ब्रिटेन और भारत दोनों सहमत एक-मत हैं कि भारत को स्वाधीन होना चाहिये, मतभेद केवल इस बात का है कि भारत का शासन कैसे और किसको हस्थान्तरित किया जाय ?

हम अब प्रचार-प्रदर्शन और आन्दोलन की अवस्था से बहुत आगे बढ़ गये हैं। नये युग की नई समस्याएँ सामने हैं। अपनी वर्त्तमान अवस्था में हम में अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान और अपने उत्तरदायित्व का भाव अनिवार्यतः आवश्यक है। हमारे ऊपर असीम स्वाधीनता-संग्राम के सञ्चालन का, स्वाधीन-भारत

के विधान-निर्माण का, तथा शासन का उत्तरदायित्व किसी भी समय आ सकता है। अतः हमें अपने को सदैव तैयारी की हालत में रखना है। स्वाधीनता-संग्राम की अब तक की हमारी विजयों ने भारतीय स्वाधीनता के हिंसक शत्रुओं को जिस तरह हो उस तरह अपने जीवन के लिए लड़ने की अवस्था में पहुँचा दिया है, हमारे अपने देश में भी स्वाधीनता की रुझान और आशा ने स्वार्थी समुदायों की स्वार्थाकांक्षाओं को तीव्र और प्रचण्ड कर दिया है। भारतीय स्वाधीनता के नैसर्गिक शत्रु ब्रिटिश साम्राज्यवादी तथा भारतीय नौकरशाही अब अपने ब्रह्मास्त्रों से साम, दाम, दण्ड भेद से कौशलता के साथ छल और बल की दुरंगी नीति को और भी प्रचण्ड करेंगे। इनमें वे अत्यन्त अनुभवी और सिद्धहस्त हैं। भारत के स्वार्थी-समुदायों से मिल कर वे भारत को स्वाधीनता से वञ्चित रखने का भरपूर प्रयत्न करेंगे। भारतीय स्वाधीनता की माँग को सिद्धान्ततः स्वीकार करेंगे की उनकी धूर्त्ततापूर्ण बात उनकी खास-नीति की परिचायक है। एम० एन० राय, अणे, खरे, उड़ीसा के गोदावरी मिश्रा तथा जमुनादास प्रभृति का खरीदना उनकी दाम-नीति का, १६४२ से लेकर अब तक का राक्षसी दमन तथा नात्सियों को भी लज्जित करने वाला क्रूर सर्वाधिकार सम्पन्न गवर्नरी शासन उनकी दण्ड नीति का तथा खाकसार, मुस्लिम लीग, कम्यूनिस्ट, अम्बेडकर, देशी नरेश और हिन्दू महासभा प्रभृति को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन तथा इन सब की सहायता, किसी को थोड़ी और किसी को बहुत तथा भारतीय सैनिकों आदि के नये-

नये भेदों की सृष्टि और सरकारी नौकरों तथा अहलारों की संख्या बढ़ाने वाली उनकी युद्ध पश्चात् पुनःसङ्गठन की योजनाएँ उनकी भेद नीति के उदाहरण हैं। अपने अन्तिम स्वाधीनता संग्राम में सफलता पाने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने और शत्रुओं के बलाबल तथा अनुकूल प्रतिकूल शक्तियों और परिस्थियों पर पूरा पूरा ध्यान रखकर अपनी योजना बनावें। अनुकूल-प्रतिकूल शक्तियों का वर्णन नये युग की इन और किन्ही अन्य नई माँगों तथा नवीन आवश्यकताओं की ओर हमारे अद्वितीय लोक नायक महात्मा गान्धी का ध्यान गया है और उन्होंने तदनुकूल अपने कार्यक्रम, नई कांग्रेस के नये कार्यक्रम को नये शब्दों तथा नये रूप का दान किया है। उसमें नये अङ्गों का समावेश किया है। इस नई अवस्था के अनुसार कांग्रेस की नई व्यवस्था की बात को भी स्वाधीनता प्रेमी नहीं भूले हैं। नवीन परिस्थिति में एक नेता, एक पार्टी और एक कार्य-क्रम की अनिवार्य आवश्यकता की पुकार होने लगी है। एक सङ्गठन, कांग्रेस, एक नेता महात्मा गांधी, एक झण्डा, राष्ट्रीय तिरङ्गा झण्डा, तथा एक कार्य-क्रम कांग्रेस का कार्यक्रम यही युग की नई माँग और नई आवश्यकता है।

नेतृत्व और सुनिश्चित कार्यक्रम की आवश्यकता तथा उपयोगिता से, विशेष कर क्रान्तियों और स्वाधीनता-संग्रामों में, कोई भी समझदार व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। यह सभी जानते हैं कि रूस में बाल्शेविकों की सफलता का सब से बड़ा कारण यही था कि उनके पास अविभाजित नेतृत्व और सुनिश्चित कार्यक्रम

था। मार्क्स और लैनिन ने बार-बार नेतृत्व की आवश्यकता पर जोर दिया है। मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में सामाजिक प्रगति में महान पुरुषों के प्रभाव और महिमा को स्वीकार किया है। रूस मे बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता और सोवियट राज के स्थापित्व का सब से बड़ा कारण लैनिन का अद्वितीय नेतृत्व ही था। फिर भी हमारे देश में ऐसे कामरेडों की बहुतायत है जो विश्व-वन्द्य विभूतियों तक को, महात्मा गान्धी को मौके-बेमौके हरवक्त गालियाँ देना ही क्रान्तिकारी होने का एकमात्र प्रमाण मानते हैं। कार्लाइल ने Hero पर, सोपेनहार और निट्शे ने Super man पर आल्डस हक्सले ने अनासक्त दिव्य स्त्री-पुरुषों पर और क्रिस्टोफ़र कौडवैल जैसे शहीद कम्यूनिस्ट ने अपनी Studies in Dying culture (एक मृत संस्कृति का अध्ययन) नामक पुस्तक में Hero पर पूरा-पूरा जोर दिया है परन्तु हमारे देश के बहुत से नौजवानों को एक सवार के हाथी की तरह, अपने राष्ट्रीय नेतृत्व के विरुद्ध नेताशाही के नाम से, हमला करने में ही रस मिलता है। यद्यपि हमारे सौभाग्य से हमें एक ऐसा नेता मिला हुआ है जिसमें इन सब लेखकों के, महापुरुषों के सब गुण मौजूद हैं। नेता राष्ट्र की अव्यक्त इच्छा-शक्ति का स्वामी तथा जन-मन का ज्ञाता और लंगर होता है। महात्माजी में ये गुण असाधारण मात्रा में पाये जाते हैं। महात्माजी राष्ट्रीय अन्तरात्मा तथा राष्ट्रीय इच्छा-शक्ति की प्रतिमूर्ति हैं—वे हमारे राष्ट्र-नायक के अवतार हैं। वे ही भारतीय राष्ट्र की रचना कर रहे हैं। वे ही उसकी विविध

मणियों को राष्ट्र-सूत्र में पिरो रहे हैं। जब आज कम्यूनिस्ट-रूस में स्टालिन को हमारा पिता, हमारा प्यारा नेता, हमारा सूर्य के नाम से पुकारा जाता है तब कोई कारण नहीं है कि हम विश्व-वन्द्य महात्मा गान्धी को बापू मानने और कहने में क्यों झिझकें ? असल में यह झिझक की मनोवृत्ति वह दास-मनोवृत्ति है जिसके कारण कालेज के होस्टलों में रहने वाले देहाती विद्यार्थी अपने बाप को बाप बताने में झेंपते और उसे नौकर या गाँव का एक आदमी कहने में भी नहीं चूकते। हमें इस कलुषित मानस को छोड़ कर अपने नेताओं का आदर करना, उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना सीखना होगा। नेता के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना, उनमें गर्व और गौरव अनुभव करना तथा हमारे जो शत्रु हमें अपने नेता का गुलाम अथवा अन्धानुयायी कह कर पुकारें उनके इन धूर्त्ततापूर्ण तानों से झेंपने के बदले इन तानों को इस बात का प्रमाण-पत्र मानना कि हम सही रास्ते पर हैं, जो हमारा अनिवार्य कर्त्तव्य है।

जगत्प्रसिद्ध विद्वान् वर्टारण्डशल ने अपनी Power a New Social Analyses शक्ति एक नवीन सामाजिक विश्लेषण नामक पुस्तक में लिखा है कि क्राँतिकारी शक्ति बहुत हद तक ध्येय और कार्यक्रम की एकता पर निर्भर रहती है इसलिये नेता के प्रति श्रद्धा-विश्वास के साथ साथ कार्यक्रम में भी जीवित विश्वास आवश्यक है। श्री जयप्रकाशनरायण के पत्र के उत्तर में महात्माजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वे श्रीयुत जयप्रकाश-नरायण के क्रान्तिकारी तथा समाज वादी कार्य-क्रम को एक

देशी नरेशों के विनाश को बात की छोड़ कर सब बातों को आम तौर पर स्वीकार करते हैं। वास्तविक बात यह है कि गांधी वाद में सब बातें पहले ही मौजूद थीं। महात्मा जी ने स्वयं यह कहा है कि मेरा समाज-वाद प्राकृतिक में किसी की नकल नहीं। महात्माजी के स्वराज्य-सदन का निर्माण सामाजिक न्याय और आर्थिक स्वाधीनता तथा शोषण के अन्त के सिद्धान्तों की नींव पर होगा। उसमें व्यक्ति को स्वस्थ जीवन तथा नैतिक और मानसिक विकास का पूरा पूरा अवसर मिलेगा। राज वैयक्तिक अथवा साहयोगिक घरेलू धन्धों को प्रोत्साहित करेगा। सूती कपड़े की बड़ी बड़ी मिलों का विकेन्द्रीकरण होगा। यातायात के बड़े उद्योग, खानों के उद्योग तथा अन्य बड़े पैमाने के सब उद्योगों का राष्ट्रीकरण होगा। ग्राम यथा सम्भव स्वयं पर्याप्त होंगे। जमीन का मालिक वह होगा जो उसे जोतेगा।

कार्यक्रम बनाने में असाधारण ज्ञान और बुद्धिमत्ता की आवश्यकता होती है। वह ऐसा होना चाहिये जो अपने प्रति कम से कम (१) विरोध उत्पन्न करे, (२) किसी भी हालत में तत्वों में भीषण विरोध जाग्रत न करे तथा (३) अनुयायियों में भी उसके प्रति उत्साह रहे। इन तीनों शर्तों को पूरा करते हुए वह सुलभ कारगर और व्यावहारिक भी हो। महात्माजी के कांग्रेस के कार्यक्रम में पहली शर्त तथा अन्तिम गुण तो पहले ही से मौजूद था १९४४–४५ में उन्होंने राष्ट्रीय रचनात्मक कार्य-क्रम को जिस नये रूप में कुछ नये अंकों की वृद्धि के साथ देश के

सामने रक्खा है उसके बाद उसके प्रति कार्य-कर्त्ताओं के उत्साह में भी कोई कमी रहने की गुञ्जाइश नहीं है।

महात्मा गाँधी के अपने शब्दों में, बापू की वाणी में, रचनात्मक कार्यक्रम का रहस्य और स्थान नवजीवन माला की उन्नीसवीं पुस्तक के रूप में सस्ता साहित्य मण्डल की ओर से प्रकाशित हुआ है। रचनात्मक कार्य-क्रम को महात्माजी अपने, साधनों से पूर्ण-स्वराज्य की रचना का काम कहना ज्यादा ठीक समझते हैं। उनका कहना है कि तात्विक दृष्टि से सत्य और अहिंसा द्वारा प्राप्त पूर्ण-स्वराज्य का अर्थ है राष्ट्र के प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग की स्वतन्त्रता। जिसमें जाति काले, गोरे, पीले, रंग, और धर्मों का भेद किये बिना जनता के हर फिरके, गरीब से गरीब फिरके का भी पूर्ण स्वराज्य हो। ऐसे स्वराज की बुनियाद स्वार्थ या एकाधिकार नहीं हो सकती। परस्पर सहयोग और परस्पर स्वावलम्बन के तत्वों के साथ उसका पूरा मेल है। अगर रचनात्मक कार्यक्रम का सफलता से अमल हो सके तो उसके अन्त में जैसा चाहिए वैसा पूर्ण स्वराज्य हमें मिल सकेगा। हिंसा द्वारा प्राप्त स्वराज्य में तो राष्ट्र का जो दल हिंसा का सब से ज्यादा बाअसर उपयोग कर सकेगा उसी का प्रभुत्व रहेगा। ऐसे स्वराज्य में आर्थिक या किसी दूसरी तरह की पूरी समानता की कल्पना तक असम्भव है।

रचनात्मक कार्यक्रम के पन्द्रह अङ्क हैं। (१) कौमी एकता। इस एकता का मतलब सिर्फ राजनैतिक एकता नहीं है। उसका मतलब है तोड़े से न टूटने वाली हार्दिक एकता। ऐसी एकता ——

के लिए पहली जरूरी चीज है कि हर एक कांग्रेसी को चाहे वह किसी भी मजहब का हो स्वयं निज में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, वग़ैरः संक्षेप में हर एक हिन्दू और अन्य धर्मों सब का प्रतिनिधि बनना चाहिये। सब हिन्दुस्तानियों के सुख दुःख का वह खुद हिस्सेदार है यह भावना कांग्रेसी मन में हमेशा जाग्रत रहनी चाहिए। ऐसी स्थिति पाने के लिए हर एक कांग्रेसी को दूसरे मज़हब के आदमियों के साथ व्यक्तिगत मित्रता जोड़नी चाहिए। उसके मन में अपने धर्म के लिए जितनी इज्जत हो उतनी ही उसे दूसरे धर्मों के बारे में रखनी चाहिए। स्टेशनों पर हिन्दू पानी और मुसल्मान पानी, हिन्दू चाय और मुसलमान चाय के शर्मनाक नारे नहीं सुनाई देने चाहिये। स्कूल-कालेजों में हिन्दुओं और अन्य धनिकों के लिए अलग कोठरियाँ या पानी पीने के अलग बरतन नहीं होने चाहिए। कांग्रेस वालों को ऐसी जाति का आरम्भ अपने शुद्ध आचरण द्वारा बिना किसी राजनैतिक हेतु के करना चाहिये। इसमें से राजनैतिक एकता अपने आप पैदा होगी।

(२) अस्पृश्यता निवारण। महात्माजी अस्पृश्यता को पाप और हिन्दू जाति का अभिशाप समझते हैं। स्पष्ट है कि जो कोई कांग्रेसी मनुष्य, मनुष्य में छूआछूत मानता है किसी भी मनुष्य का छूआ पानी पीने या उसके साथ बैठ कर खाने से इनकार करता है वह सच्चा कांग्रेसी नहीं है। हाँ, इस काम में भी हमें अपने को सनातन धर्मी कहने वाले सज्जनों के पास झगड़ालू इरादे से नहीं बल्कि अहिंसा को पूजने वाले तरीके से

मित्र-भाव से जाना चाहिए। हर एक हिन्दू को हरिजनों को अपनाना चाहिए। उसके सुख-दुःख में हिस्सा लेना चाहिए और उनके दर्दनाक पृथग्वास में उनके साथ मित्रता बढ़ानी चाहिये।

(३) शराब-बन्दी भी पहली दोनों बातों की तरह १६२० से ही कांग्रेसी कार्य-क्रम में है। महात्माजी को शिकायत है कि इस बहुत जरूरी और नैतिक तथा सामाजिक सुधार में कांग्रेसियों ने उतना रस नहीं लिया जितना लेना चाहिए था। जो लाखों मर्द-औरत शराब, अफीम वगैरः नशीली चीजों के शिकार हो रहे हैं उनकी इस बुराई को खोने के काम में डाक्टर पेशा लोग बहुत बड़ा हिस्सा ले सकते हैं। शराबियों और अफीमचियों को उनकी आदत के फंदे में से निकालने के उपाय खोजना उनका काम है। इन सुधारों को आगे बढ़ाने में स्त्रियाँ और विद्यार्थी बड़ा अच्छा काम कर सकते हैं। उनके लिए खास मौका है कि स्नेहमयी सेवा तथा स्नेह द्वारा इन बेवसों को सन्मार्ग पर लावें। थके-माँदे मजदूरों के लिए शुद्ध तथा उन्नायक विनोद और विश्राम-गृह खोलने का काम भी काँग्रेसियों को करना चाहिए जिससे वे निरानन्द जीवन के कारण नशों की ओर न झुकें।

(४) खादी के सम्बन्ध में इतना कहा जा चुका है, उसके विषय में इतना साहित्य उपलब्ध है, उसकी ऐसी उन्नति हुई तथा पश्चिमी विद्वानों और भारतीय अर्थशास्त्राचार्यों द्वारा उसका इतना स्वागत और समर्थन प्राप्त हुआ है कि यहाँ उसके सम्बन्ध में विशेष कहना अनावश्यक है। महात्माजी के शब्दों में खादी

के आरम्भ की सूचक है। खादी की स्वदेशी भावना हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों को स्वावलम्बी बना कर उन्हें इने-गिने शहरों द्वारा चूसे जाने से बचावेगी। पंडित जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "खादी हमारी आजादी की पोशाक है।" खादी की पैदाइश में कपास पैदा करना, बुनना, ओटना, निकियाना, धुनना, पूनी बनाना, कातना, सूत में आँटी देना, रँगना, ताना-वाना करना, बुनना और कपड़े का धोना ये सब शामिल हैं। कताई यज्ञ में महात्माजी साधारण स्त्री-पुरुषों से एक घन्टा रोज से ज्यादा समय देने के लिए नहीं कहते।

५—ग्रामोद्योग—चक्की, ढेंका, साबुन, कागज, दियासलाई चर्मालय, तेल-कोलू वगैरह जरूरी ग्रामोद्योग, गाँवों की अर्थ-व्यवस्था को यथासम्भव स्वयं पर्याप्त करने के लिए आवश्यक हैं। जहाँ और जब मिल सके तहाँ और तब गाँव की ही बनी चीजें उपयोग में लाना सब को अपना कर्त्तव्य समझना चाहिये। अगर गाँवों में बनी हुई चीजों की माँग पैदा हो जाय तो हमारी अधिकतर आवश्यकताएँ हमारे गाँवों से ही पूरी हो सकती हैं।

६—गाँवों की सफाई—हमारे गाँव बहुत गन्दे रहते हैं, उनके घूरों इत्यादि से बड़ी बदबू आती है। प्रत्येक कांग्रेसमैन का विशेषकर गाँव के रहने वाले कांग्रेसजन का कर्त्तव्य है कि वह अपने गाँव को सब प्रकार की सफाई का आदर्श नमूना बनावे। इस सफाई में कुओं, तालाबों आदि की सफाई शामिल

है तथा टट्टी की खाइयों, खाद की खाइयों और पानी सोखने के गड्ढों का प्रचार भी आवश्यक है।

७—नयी या बुनियादी तालीम का प्रचार प्रत्येक कांग्रेसजन का पवित्र कर्तव्य होना चाहिये। इस तालीम का मकसद गाँव के बच्चों को गढ़-गढ़ कर आदर्श ग्राम-वासी बनाना है। चरखे की तरह महात्माजी के इस आविष्कार के लिए भी देश उनका ऋणी है। अपने राज के लगभग दोसौ बरसों में भी भारत-सरकार उपयोगी प्रारम्भिक शिक्षा की कोई योजना नहीं तैयार कर पाई। उसने अब महात्माजी की इस योजना के सामने सर झुका दिया है।

८—प्रौढ़-शिक्षा को महात्माजी केवल निरक्षरता-निवारण ही नहीं समझते। उनका कहना है कि मेरे हाथ में अगर प्रौढ़-शिक्षा का काम हो तो मैं प्रौढ़-विद्यार्थियों के मन में अपने देश की महत्ता और विशालता की तस्वीर खड़ा करने से शुरूआत करूँ। ·····अशिक्षित ग्रामवासियों के मन में विदेशियों और उनकी हुकूमत के लिए भय और द्वेष की भावना रहती है परन्तु उसको खतम करने के उपाय वे नहीं जानते। वे यह नहीं जानते कि उनकी अपनी निर्बलता और विदेशी शासन को हटा देने की जो शक्ति उनके दिल के अन्दर मौजूद है उसका न जानना ही विदेशियों के इस मुल्क में टिकने की वजह है। अतः प्रौढ़-शिक्षा का सबसे पहला मतलब तो यह है कि मौखिक शिक्षा द्वारा प्रौढ़ मनुष्यों को राजनीति के विषय में सही ज्ञान देना। उसकी रूप-रेखा पहले से बनी हुई होगी इसलिए यह बेखटके दिया जा

सकता है। अगर इसमें सरकार की ओर से दखल दिया जाय तो कांग्रेसजनों को इस प्राथमिक हक के लिए लड़ाई मोल लेनी चाहिये क्योंकि इसके बिना स्वराज सम्भव नहीं है। मौखिक-शिक्षा के साथ-साथ अक्षर-ज्ञान भी कराया जाना चाहिये।

६—स्त्रियों की उन्नति को महात्माजी ने रचनात्मक कार्य-क्रम में इसलिए शामिल किया है क्योंकि कांग्रेसजनों के मन में अभी वह बात स्पष्ट नहीं हुई है कि .स्वराज्य-संग्राम में स्त्रियाँ समान रूप से हिस्सेदार बनती हैं। वे यह नहीं समझे हैं कि सेवा-कार्य में स्त्री को पुरुष की सच्ची सहचरी होनी चाहिये। पुरुषों को चाहिये कि वे अपने को स्त्रियों का स्वामी या मालिक मानने के बजाय उनका मित्र और साथी मानें। देश की महिलाओं को उनकी उन्नति के साधन में मदद देना कांग्रेसजनों का विशेष कर्तव्य है। उनका कर्त्तव्य है कि वे स्त्रियों में ऐसी शक्तियाँ पैदा करें जिससे स्त्रियों को अपने पूरे दर्जे का भान हो जाय और वे पुरुषों की बराबरी के तरीके पर अपना भाग अदा कर सकें। महात्माजी का कहना है कि यदि मन का निश्चय हो तो यह क्रान्ति आसान है। कांग्रेसी अपने घरसे आरम्भ करें। वे स्त्रियों को गुड़िया और भोग के साधन के रूप में न मानें बल्कि समाज की सेवा में सम्मिलित सहचरी मानें।

(१०) आरोग्य और स्वास्थ्य-विज्ञान की शिक्षा एक अलग विषय है। उससे सम्बन्धित आचरण भी जुदा होता है। यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य-जाति जिन

व्याधियों से पीड़ित हैं उनमें से बड़े हिस्से के लिए आरोग्य और शौचाचार के नियमों का अज्ञान और उनके प्रति की हुई लापरवाही जिम्मेदार है। यदि लोगों को आरोग्य और शौचाचार के के विषय में उचित शिक्षा मिले तो देश की मृत्यु-संख्या कुछ कम अवश्य हो सकती है। महात्माजी ने ऐसे जो सरल नियम बताये हैं वे ये हैं—शुद्ध से शुद्ध विचार से सोओ, गन्दे और निकम्मे विचारों को मन से निकाल बाहर करो। दिन-रात खूब ताजी हवा लो। शारीरिक और मानसिक काम का सामञ्जस्य रक्खो। सीधे तन कर खड़े हो, सीधे तन कर बैठो। अपने हरएक काम में शुद्ध और सुघड़ रहो। मानव बन्धुओं की सेवा के लिए खाओ। पानी, आहार और हवा स्वच्छ होना चाहिए तथा निजी स्वच्छता के साथ-साथ वातावरण भी शुद्ध रखो।

(११) राष्ट्र-भाषा का प्रचार भी आवश्यक है। इसके अभाव में जन-समूह आधुनिक विचारों से कटकर अलहदा पड़ गया है। इस बुराई को जब तक हम दूर न कर सकें तब तक जन-समूह का मस्तिष्क बन्धन में जकड़ा रहेगा। जन-समूह को जब तक उससे यह आशा रखना व्यर्थ है कि वह स्वाधीनता-सग्राम में अपना पूरा भाग अदा कर सके। सारे भारत को आपसी व्यवहार के लिए भी हमें ऐसी राष्ट्र-भाषा चाहिये जिसे हमारी जनता की बड़ी-से-बड़ी तादाद आज भी जानती और समझती हो और जिसे दूसरे लोग आसानी से लिख सकते हों। यह भाषा निर्विवाद रूप से हिन्दी है। उत्तर भारत के हिन्दू और मुसलमान दोनों उसे बोलते और समझते हैं। यही जब

फारसी लिपि में लिखी जाती है तब उर्दू कहलाती है। कांग्रेस ने १९२५ में कानपुर के अधिवेशन में इस राष्ट्र-भाषा का हिन्दुस्तानी का नाम दिया।

(१२) स्व-भाषा-प्रेम—इतना स्पष्ट और स्वयं सिद्ध है कि उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

(१३) आर्थिक समानता—महात्माजी के शब्दों में अहिंसक पूर्ण स्वराज्य की खास कुँजी है। इसका मतलब है कि जिन गिनती के धनी व्यक्तियों के हाथ में राष्ट्र की सम्पति का बड़ा हिस्सा इकट्ठा हो गया है वे नीचे उतरें और नंगे-अधभूखे करोड़ों लोग ऊपर ऊँचे चढ़ें। धनी अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति समझें तथा अपने को उसका ट्रस्टी। इस आर्थिक समानता की बुनियाद इसी समय पड़नी चाहिये।

सन् १९४४-४५ में महात्माजी ने इस कार्य-क्रम में दो नई बातें और जोड़ी हैं।

किसान, मज़दूर और विद्यार्थियों के सङ्गठन के लिए अब महात्माजी ने अपनी सम्मति ही नहीं अपना आदेश भी दिया है। इनके महत्व से वे कभी बेखबर न थे। रचनात्मक कार्य-क्रम सम्बन्धी उपर्युक्त पुस्तिका में लिखा है कि 'आज़ादी की जंग में इन तीनों का जो विशेष महत्व है उससे मैं बेखबर नहीं हूँ। "....मैं इनके संगठन से उदासीन इसलिए हूँ कि जिससे दूसरे लोगों व दलों से प्रतिद्वन्दता न हो। उनका कहना है कि मज़दूरों का संगठन तो मेरे हाथ से हुआ है। अहमदाबाद के मज़दूरों का संगठन सारे हिन्दुस्तान के अनुकरण करने योग्य

नमूना है। उसे अपने जीवन में कभी पीछे नहीं हटना पड़ा है। बिना किसी शोरोगुल और दिखावे के यह सङ्गठन उत्तरोत्तर अधिक बलवान बनता गया है। उसका अपना अस्पताल है। मिल मज़दूरों के बालकों के लिए अपनी पाठशालाएँ हैं। प्रौढ़-शिक्षण के वर्ग हैं। अपना प्रेस और खादी-भण्डार है और मज़-दूरों के रहने के लिए मकान हैं जो खुद मज़दूर-सभा की मिल्कि-यत है। लगभग सारे मज़दूरों को वोट देने का हक है। चुनाव का फैसला उन्हीं की वोटों से होता है। इस मज़दूर-सङ्घ का शहर की म्यूनिस्पैलिटी की नीति पर असर है। उसने अनेक सफल हड़तालें कर दिखाई हैं जो सब सर्वान्श में अहिंसामय थीं। मिल-मालिक और मजदूरों ने पारस्परिक सम्बन्ध में बहुत कर के स्वेच्छा से पंच से न्याय करा कर काम लिया है। मुझे आशा है कि कभी वह समय आवेगा जब अखिल भारतीय मजदूर-संघ (ट्रेड यूनियन) अहमदाबाद मज़दूर-संघ की पद्धति को स्वीकार कर सकेगी। समय आने पर यह अपने आप होने वाली चीज है। जहाँ तक किसानों से सम्बन्ध है हिन्दुस्तान में १६१७ में चम्पारन से शुरू करके जितने सफल किसान-आन्दो-लन महात्माजी ने किये उतने समस्त किसान सभाओं के और उनके समस्त नेताओं ने मिल कर भी नहीं किये। खेड़ा, बोरसद और बारदोली के विजयी किसान-संग्रामों और कांग्रेसी-मन्त्रि-मण्डलों द्वारा की गई किसानों की भलाइयों की बराबरी कौन कर सकता है? विद्यार्थियों के सम्बन्ध में उन्होंने यह लिखा है कि "मैं यह जानता हूँ कि वे भविष्य की आशा हैं—इन्हीं में से

देश के भविष्य के नेता निकलने वाले हैं। उन्होंने विद्यार्थियों को सलाह दी है कि वे नियमानुकूल और शास्त्रीय ढङ्ग से कताई यज्ञ करें। उनके औजार हमेशा स्वच्छ सुघड़ और व्यवस्थित हों। सम्भव हो तो वे इन औज़ारों का बनाना खुद सीख लें। उनका सूत स्वाभाविक रूप से बढ़िया से बढ़िया हो। वे कताई-कला सम्बन्धी साहित्य पढ़ें और आर्थिक, नैतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक दृष्टि से इसके रहस्य का अध्ययन करें। वे हमेशा खादी का व्यवहार करें। विदेशी या देशी मिलों को त्याग कर के देहात की बनी चीजों का ही इस्तैमाल करें। वे स्वयं राष्ट्रीय झण्डे वाले बिल्ले-बटन लगावें। तिरंगे झण्डे का सन्देश अपने जीवन में वरतें और साम्प्रदायिकता की भावना तथा छूआछूत से युद्ध करें। आघातों की प्रारम्भिक चिकित्सा करें, बालकों तथा प्रौढ़ों को शिक्षा दें। राष्ट्र-भावना का प्रचार करें। तथा निर्भय बनें और सहपाठियों के साथ समता तथा सज्जनता का व्यवहार करें।

महात्माजी का कहना है कि रचनात्मक कार्य-क्रम के बिना मेरे लिए सविनय अवज्ञा का चलाना ऐसा ही है जैसा लकवा मारे हुए हाथ से करछुल उठाना।

२८ अक्टूबर १६४४ में महात्माजी ने कहा था कि कार्यकर्त्ता समूह में अदम्य इच्छा शक्ति हो तो यह कार्यक्रम सर्वथा व्यवहार्य बल्कि सब से अधिक व्यावहारिक है। जैसे सशस्त्र-विद्रोह में सैनिक-शिक्षा की आवश्यकता होती है उसी प्रकार सत्याग्रह के लिए भद्र अवज्ञात्मक कार्य-क्रम की शिक्षा आवश्यक है।

जिस प्रकार सशस्त्र-संग्राम तो कुछ ही समय के लिए होता है उसी प्रकार यह अवज्ञा भी हर समय नहीं हो सकती। स्थायी कार्य-क्रम तो रचनात्मक कार्यक्रम ही हो सकता है। यदि सरकार इस रचनात्मक कार्य-क्रम को विफल करने का प्रयत्न करे तो वे (भद्रावज्ञा के लिये) तैयार रहेंगे। जो संसार भर में सर्वत्र स्वाधीनता संग्राम के सैनिकों को कष्ट सहने पड़े हैं। बिना आत्म-बलिदान के स्वराज्य नहीं हो सकता। जो रचनात्मक कार्य-क्रम के इस रहस्य और महत्व को समझ लेंगे उन्हें उसमें उतना ही रस और आनन्द मिलने लगेगा जितना तथा कथित राजनीति और लच्छेदार भाषणों में। यह कार्यक्रम भी उदाहरणात्मक है। स्थानीय परिस्थिति के अनुसार कार्यकर्त्ता इस में नई बातें भी बढ़ा सकते हैं।

अपनी जमीन के मालिक किसानों और खेती हीन खेती के मजदूरों के सङ्गठन पर जोर देते हुए महात्माजी ने कहा कि किसानों में निकटतम सङ्गठन अनिवार्यतः आवश्यक है। खेती-हीन खेती के मजदूरों की मजदूरी इतनी होनी चाहिये जिससे वे इज्जत से अपनी जिन्दगी बसर कर सकें यानी पोषक भोजन, स्वस्थ घर और आवश्यक वस्त्र पा सकें कारखानों के मजदूरों के संगठन के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि मुख्य सवाल इन मजदूरों में काम करने वाले कांग्रेस जनों को मजदूरों की नैतिक तथा मानसिक ऊँचाई उठाने का प्रयत्न करना चाहिये। जिससे न केवल वे अपनी आर्थिक उन्नति ही कर सकें परन्तु उत्पादन के साधनों के दास होने के बदले उसके स्वामी बन सकें। मजदूरों

को उनके कर्त्तव्यों का भी ज्ञान करा देना चाहिये क्योंकि कर्तव्य-पालन से अधिकार अपने आप प्राप्त होते हैं। मजदूरों की अपनी यूनियन होनी चाहिये। उनमें स्त्री-पुरुष दोनों को रात्रि पाठशालाओं द्वारा साधारण तथा वैज्ञानिक शिक्षा दी जानी चाहिये। मजदूरों के बालकों को बुनियादी तालीम मिलनी चाहिये। उनके लिए प्रत्येक केन्द्र में एक अस्पताल, शिशु-सदन और जच्चाखाना होना चाहिये। उन्हें सफल अहिंसात्मक हड़-ताल के सञ्चालन की विद्या सिखाई जानी चाहिये तथा उनमें इतनी सामर्थ्य होनी चाहिये कि हड़ताल के समय अपना गुजारा कर सकें। अहमदाबाद की मजदूर यूनियन सर्वोत्तम यूनियन है। मजदूरों में एका हो तथा उनको नैतिक तथा मान-सिक शिक्षा मिल गई हो तो वे सदैव पूँजी से ऊँचे रहेंगे।

बारह बरस से अधिक अवस्था के विद्यार्थियों में काम करने की आवश्यकता पर जोर देते हुए महात्माजी ने कहा कि पर्याप्त कार्यकर्त्ता हों तो मैं तो चाहूंगा कि बचपन से ही, स्कूल जाने योग्य अवस्था से ही विद्यार्थियों की शिक्षा का कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय। सरकारी स्कूलों और कालेजों में राष्ट्रीय तथा देश भक्ति की भावना उसके पास तक नहीं फटकने पाती। कांग्रेस-जनों को सब से बालक स्कूल जाने योग्य हो जायँ तभी से उनमें राष्ट्रीयता तथा देश भक्ति की भावना का प्रचार कर के उनकी शिक्षा की कमी पूरी करनी चाहिये। सार्वजनिक सत्याग्रह के समय छोड़कर साधारणतः विद्यार्थियों को राजनैतिक झंझा-वातों से अलग रहना चाहिये परन्तु उन्हें राष्ट्रीय चेतना और

राष्ट्रीय जाग्रति की शिक्षा सदैव मिलनी चाहिये। कुछ कांग्रेस-जनों का कर्त्तव्य होना चाहिये कि वे विद्यार्थियों में राष्ट्रीय भावना के प्रचार का कार्य करें। यह कार्य निहायत जरूरी है। यह कार्यक्रम, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक के चौमुखी क्रान्ति का सर्वाङ्गीण कार्यक्रम है। संसार के इतिहास में स्वाधीनता-संग्राम के लिए लड़ने वाली बिरली ही पार्टी के पास ऐसे पूर्ण कार्यक्रम का उदाहरण मिलेगा।

इस कार्य-क्रम के सम्बन्ध में १६४२ से पहले ही पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने यह कहा था कि जब समय आवे तब वह हमें तैयार पावे। दिल से मजबूत, शरीर से गति-शील और मन और ध्येय से दृढ़। अपनी राह भी जिस पर हमें चलना है हम अच्छी तरह पहचानें जिससे सन्देहों के हमले हम पर न हों और विचारों का भेद हमारे निश्चय को कमजोर न करे। अपने मंजिले मकसद को हम पहचानते हैं। अपना ध्येय और दिल की चाह भी हमारे सामने है। इन पर बहस करने की जरूरत नहीं है। जिस राह पर हमें चलना है, जो तरीके हमें बरतने हैं, जो उसूल हमारी क्रियाओं पर संरक्षण रखते हैं वे भी निश्चय ही बहस के लिए नहीं हैं। बरसों पहले ही हमने यह रास्ता रोशन कर दिया है और ठीक कर दिया है जिससे दूसरे लोग उस खुले रास्ते पर चल सकें। बीस बरस पहले बहुत से लोगों ने इस सीधे और सही रास्ते की शक्ति पर सन्देह किया होगा। लेकिन आज मार्ग-दर्शक के लिए हमारे पास भारी अनुभव है और सीख देने के लिए हमारी अपनी सफलता और

असफलतायें हैं। उस रास्ते से हटाने की कोशिशों के बावजूद भी हम दृढ़ निश्चय के साथ उस पर अड़े हुए हैं। भारत के लाखों व्यक्तियों ने इस रास्ते के महत्व को समझा है और अब वे इस पर इतने पाबन्द है कि जितने पहले कभी नहीं थे। कांग्रेस अपना दृढ़ विश्वास उसमें दिखाए जा रही है। उसके लिए दूसरा मार्ग ही नहीं।"

नवीन कार्यक्रम में तो किसी प्रकार के सन्देह को कोई जगह ही नहीं है।

प्रचार की दृष्टि से भी जन-सेवा द्वारा प्रचार का यह ढंग सर्वोत्तम है। कहावत है कि मनभर उपदेश से तोले भर आचरण कहीं बहतर होता है। प्रचार-कार्य पच्चीस बरस से लेखक का प्रिय-जीवन कार्य रहा है। उसने लिवमैन की "विगत महायुद्ध में प्रचार की प्रक्रिया" आदि अनेक विशेषज्ञ लेखकों की कई पुस्तकें पढ़ी हैं। ब्रिटिश साम्राज्य-शाही, अमेरिकन पूँजीशाही, स्टालिन और हिटलर की प्रचार पद्धतियों का विशेष रूप से अध्ययन और अवलोकन किया है। इन सबके आधार पर उसका मत है कि क्षमता की दृष्टि से न्यून-तम उद्योग में महत्तम सुफल की दृष्टि से जन-संग्रामों की भाँति प्रचार-कार्य में भी महात्माजी को कोई नहीं पाता। सेवा, सच्चाई, साहस और सदाचार इन चार महामन्त्रों के बल पर महात्माजी कौड़ियों और महीनों में जितना प्रचार कर देते हैं उतने दूसरे करोड़ों और बरसों में भी नहीं कर पाते। यदि हम यह याद रक्खें कि अरब के अनुभवी लारैंस की राय है कि

विद्रोह युद्ध-स्वरूपी नहीं अब हड़तालस्वरूपी है तो हमें यह मालूम हो जाय कि सत्याग्रह और असहयोग-जन-क्रान्ति के सर्वोत्तम साधन हैं। परन्तु संसार के मूढ़ग्राह बड़ी मुश्किल से मरते हैं और हिंसा के प्रति लोगों का मूढ़-ग्राह बड़ा कठ-जीवी है।

पार्लियामेण्टरी कार्य-क्रम भी साथ-साथ चल सकता है परन्तु स्वाधीनता-संग्राम के एक अङ्ग के रूप में। और रचनात्मक कार्यक्रम तथा अन्तिम स्वाधीनता-संग्राम की तैयारी के गौण सहायक के रूप में क्रान्तिकारी राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि और भी अधिक तेजी से तथा सुव्यवस्थित रूप से होनी चाहिये।

कुछ लोग 'स्वाधीनता' के नाम पर कांग्रेस को एक पार्टी के रूप में सङ्गठित किये जाने में आपत्ति करते हैं तथा यह चाहते हैं कि उन्हें न केवल कांग्रेस के कार्यक्रम के सम्बन्ध में ही परन्तु ध्येय और नेतृत्व आदि सभी मौलिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी कभी बन्द न होने वाली बहस करने की तथा कांग्रेस की नाव में बैठ कर उसी में छेद करने की पूर्ण स्वाधीनता ही नहीं सब प्रकार की सुविधा भी दी जाय और गोपीनाथ श्रीवास्तव से लेकर श्रीमती सरोजनी नायडू तक इस स्वाधीनता का समर्थन करते हैं। इसलिये इस प्रश्न पर भी कुछ विचार करना आवश्यक है। १८ नवम्बर १९३९ के हरिजन-सेवक में महात्मा गान्धी ने लिखा था कि "कांग्रेस का काल दुहरा है। शान्ति के वक्त वह प्रजा-तन्त्रीय संस्था है और युद्ध के वक्त वह एक अहिंसात्मक सेना बन जाती है।" अपने इस दूसरे रूप में मताधिकार का महत्त्व

नहीं रहता। उस समय तो जो भी उसका प्रधान हो उसके द्वारा उसकी इच्छा प्रदर्शित होती है और उस हालत में उसकी हरेक इकाई को मन, वचन और कर्म से स्वेच्छापूर्वक उसकी आज्ञा का पालन करना पड़ता है। १९४२ के स्वाधीनता-संग्राम में हम देख चुके हैं कि अनेक कांग्रेस-जनों ने ही नहीं, सङ्गठित पार्टियों ने भी कांग्रेस के निर्णयों और नेता की आज्ञाओं का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन किया। इस बात को तथा इस बात को भी ध्यान में रखकर कि अब कांग्रेस की स्थिति सदैव युद्ध की स्थिति हो गई है और उसके ध्येय तथा मौलिक सिद्धान्तों को सदैव बहस का विषय नहीं रहने दिया जा सकता हमें पंडित जवाहरलाल नेहरू की इस सलाह पर कड़ाई से अमल करना होगा कि इन बातों में, काम के समय "सन्देह की फिलासफी या बहस मुबाहिसे की आरामदेही की इजाजत नहीं है। उससे भी कम इजाजत है उन व्यक्तियों या दलों की जो विरोधी क्रियाओं से उस ध्येय को एक तरफ डाल दें और उसकी जड़ पर कुठाराघात करने की चुनौती दें।" १९४२ से पहले ही जब पंडितजी ने ये बातें कहीं थीं, तभी उन्होंने यह भी कहा था कि, 'एक नई पीढ़ी उठ खड़ी हुई है जिसकी जड़ हमारे पुराने अनुभवों में नहीं है और जो दूसरी ही भाषा बोलती है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कि खुले तौर पर या छिप कर और हमारी ही संस्था की आड़ से हमारे तौर-तरीकों और सिद्धान्तों के प्रति घृणा प्रकट करते हैं।

"क्या करना चाहिये (What is to be done) नामक पुस्तक में लैनिन ने इस प्रकार की स्वाधीनता का खूब मज़ाक उड़ाया है। कहा है स्वाधीनता के नाम पर क्या-क्या अनाचार नहीं होता ? स्वाधीन व्यापार के झण्डे के नीचे भयानक लूट के लिए लड़ाइयाँ लड़ी जाती हैं, स्वाधीन मज़दूरों के नाम पर श्रमजीवियों का शोषण किया जाता है। लैनिन का कहना है कि आलोचना की स्वाधीनता के मानी हैं प्रत्येक पूर्ण और सुविचारित सिद्धान्त से स्वतन्त्रता। उसके मानी हैं सिद्धान्त हीनता ! उनका कहना है कि इस प्रकार की स्वाधीनता नहीं दी जा सकती। पार्टी की निर्धारित नीति से ज़रा भी हटने के माने हैं पार्टी के साथ विश्वासघात करना। उनका कहना है कि समाजवादी विचार धारा की तनिक सी आलोचना करने—उसमें ज़रा भी इधर-उधर जाने से—बुरजुओई विचारधारा का समर्थन करना है। अपने संगठन में जिनके यहाँ ऐसी घोर दासता है वे ही कांग्रेस में स्वाधीनता के नाम पर अराजकता चाहते हैं। हमें उन लोगों की सलाहों को इनकी नीयत की दृष्टि से देखना होगा। कांग्रेस अखिल भारतवर्षीय, प्रान्तीय तथा जिला कांग्रेस कमेटियों में विचार और बहस की स्वतन्त्रता अपने लोकतंत्रीय विश्वास के अनुकूल देगी, परन्तु अब वह कांग्रेस कार्यक्रम का प्रचार करनेवाली कान्फ्रेंसों को बहारबाजी का आखाड़ा नहीं बनने दे सकती और वह अपने निर्णयों को ठुकराने की, कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य प्रतिद्वन्दी संगठनों के प्रति भक्ति रखने, तथा उनका अनुशासन मानने की स्वाधीनता नहीं देगी।

इसके घातक दुष्परिणाम हम १९४२ के स्वाधीनता संग्राम के कटु अनुभव से देख चुके हैं।

स्वाधीनता की बहुत दुहाइ दी जाती है लेकिन पहले हम यह तो देख लें कि स्वाधीनता है क्या ? मार्क्स का कहना है कि स्वाधीनता आवश्यकता की स्वीकृति के सिवा और कुछ नहीं ! स्पेंगलर ओसवाल्ड का कहना है कि हमें आवश्यक कार्य करने या फिर कुछ भी न करने की ही स्वाधीनता मिल सकती है। शहीद कम्यूनिस्ट क्रिस्टोफर कौडवैल का कहना है कि स्वाधीनता नकारात्मक भावना नहीं है ! मनुष्यों को यदि स्वतन्त्र होना है तो उन्हें प्रचुर धनिक और सामाजिक सम्बन्धों में बँधना होगा। उसका कहना है कि बुद्धिवादियों में सत्य और न्याय की बहस उस समय तक कभी समाप्त न होगी जब तक कि वे किसी कर्मवीर तथा विचारवीर व्यक्ति का निर्णय मानना स्वीकार न करें। उनका कहना है कि स्वतन्त्रता की सामायिक परिभाषा करना भी कठिन है। उसके लिए हमें सामाजिक प्रगति के नियमों और उपयुक्त सामाजिक सम्बन्धों पर भी ध्यान देना होगा। उनका कहना है कि मनुष्य सामाजिक सहयोग से ही स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है। वह अपनी इच्छानुसार कार्य सामाजिक शक्तियों का उपयोग कर के ही कर सकता है। समाज-शास्त्र और आचार-शास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी यह जानता है कि मनुष्य की आत्म-पूर्त्ति समाज में ही हो सकती है। समाज की सेवा कर के, उसका अनुशासन मानकर, उसके सहयोग से ही वह सच्ची स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में स्वाधी-

नता के माने यह कदापि नहीं हैं कि हम राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय महा-सभा का अनुशासन न मानें, बल्कि सही बात यह है कि जब तक व्यक्ति और व्यक्ति-समूह राष्ट्रीय सहयोग और राष्ट्रीय सगटन के लिये अपनी वैयक्तिक और दलगत स्वाधीनताओं को सहर्ष न्यौछावर न करें तब तक राष्ट्रीय स्वाधीनता सम्भव ही नहीं है। व्यक्तिगत और दलगत स्वाधीनता की बलि दिये बिना राष्ट्रीय, सामाजिक और सामूहिक सङ्गठन चल ही नहीं सकता।

इन समस्त दृष्टियों से अपने अन्तिम स्वाधीनता-संग्राम के समय कांग्रस को सजग और महान क्रान्तिकारी पार्टी अथवा सेना का रूप धारण करना पड़ेगा। ऐसी पार्टी और अहिंसात्मक सेना के शिक्षित स्टाफ के बिना स्वाधीनता संग्राम में संलग्न होना जान बूझ कर राष्ट्रीय आत्मघात करना और निश्चित पराजय को निमन्त्रण देना होगा। हमें संख्या वृद्धि छोड़ कर संग्राम की इकाइयों की क्षमता पर और व्यक्तियों की योग्यता पर ध्यान देना होगा। राजनीति बच्चों का खिलवाड़ नहीं है। वह एक ऐसी कला है जिसमें सदैव जागरूक तथा सुशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की सेना अनिवार्यतः आवश्यक है। हमें लैनिन के ये शब्द याद रखने होंगे कि एक शिक्षित कार्यकर्त्ता सैनिक उन आलोचकों से बहतर है जो अपने को सदेह जाजत का समझता है।

संगठन की आवश्यकता और उपयोगिता के सम्बन्ध में हमें विशेष नहीं कहना। उसे सभी स्वीकार करते हैं। यह सभी जानते हैं कि संगठन ही बल है। समाज का समस्त भवन पारस्प-

रिक सहयोग और निर्भयता पर ही टिका हुआ है। मानव अपने जीवनोद्देश की पूर्ति समाज द्वारा, उसके संगठन में रहकर ही कर सकता है। अङ्गों का पूर्ण के अधीन होना अनिवार्य सामाजिक नियम, प्रगति का नियम है। कम्यूनिस्टों को देखिये। उनका संगठन केन्द्रीय संगठन है और वे उसमें विश्वास करते हैं।

देशी राज्यों की प्रजा के स्वराज्यान्दोलन को हम नहीं भुला सकते। इस सम्बन्ध में कांग्रेस के त्रिपुरी और हरिपुरा के प्रस्ताव स्पष्ट हैं। उचित अवसर होने पर महात्माजी ने कांग्रेस मंत्रि-मंडलों तक से देशी राज्यों की प्रजा को अमानुषिक अत्याचारों से बचाने के लिए लड़ने को कहा है। प्रोफेसर कूपलैण्ड ने यह स्वीकार किया है कि राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस की कृपा से कुछ अनेक देशी राज्यों में पूर्ण तथा सब देशी राज्यों में जिनमें ऐसे संघर्ष हुए आंशिक सफलता मिली है। जितनी सफलता महात्माजी के पथ-प्रदर्शन से मिली उतनी दूसरे किसी साधन से नहीं। देश के बुद्धि-वादियों का भी कर्त्तव्य है कि वे केवल राष्ट्रीय नेता और राष्ट्रीय कार्यक्रम की निन्दात्मक तथा नकारात्मक आलोचना करने में ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री न समझ लें, स्वयं भी कुछ जन-सेना करके अपना ऋण चुकाने का प्रयत्न करें और कुछ नहीं तो जनता के ग़ैर-कानूनी तथा अनैतिक उत्पीड़न, सत्ताधारियों के अत्याचारों और भ्रष्टाचारों का भन्डाफोड़ करके ही स्वदेश की भक्तोचित सेवा करें।

कार्यक्रम के सम्बन्ध में हम आदर्शों के महत्व को भी नहीं भूल सकते। स्वयं ऐंजिल्स, लैनिन आदि ने यह स्वीकार किया

है कि केवल आर्थिक अधिकारों की लड़ाई से राजनैतिक चेतना नहीं बढ़ सकती। महज़ रोटी के सवाल पर जोर देने से जनता टुकड़ों पर बिकने लगती है। कोरे राजनैतिक अधिकार भी काम नहीं देते। इन सब दृष्टियों से भी महात्माजी का महान आदर्शों वाला, आध्यात्मिक कायक्रम, जन-सेवा और बलिदान का कार्य-क्रम तथा फलाशा छोड़कर अनासक्त भाव से काम करने का कार्यक्रम सर्वोत्तम है।

संगठन की दृष्टि से कांग्रेस को किसी से कुछ नहीं सीखना। प्रो० कूपलैण्ड का कहना है कि उसका सङ्गठन संसार भर में सब से बड़ा है। हर गाँव में उसका कोई न कोई कार्यकर्त्ता है। अमेरी का कहना है कि कांग्रेस का सङ्गठन हिन्दुस्तान के दूसरे समस्त सङ्गठनों से कहीं बड़ा सङ्गठन है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसका अनुशासन मान कर हम उसे और भी मजबूत बनावे तथा उसे और भी बढ़ावें।

नई कांग्रेस के नये कार्य-क्रम को पूरा करने के लिए समय देने वाले ऐसे शिक्षित कार्यकर्त्ताओं की विशाल सेना की आवश्यकता है जो हर वक्त जान हथेली पर रख कर काम करने को तैयार हों। जिनके विषय में यह कहा जा सके कि 'सर बाँध कफनवा हो शहीदों की टोली निकली!" जो अपने विषय में यह कह सकें कि, 'नहीं बनाई मम ललाट में भय की रेखा—वीरो, मैंने विधि का येही अचरज देखा।" जिनमें अटल बलिदान की भावना हो, जो खुशी से आग और खतरे में कूदने को तैयार रहें तथा जो हँसते हुए

शहादत का स्वागत करें। जो अपने को राष्ट्र को अर्पित कर दें, तथा उस पर सानन्द अपनी बलि चढ़ा दें, जिनमें चमकती हुई देश की भक्ति की सर्वभक्षी ज्योति दमकती हो, जिनमें दृढ़ता और संकल्प शक्ति हो। अन्तिम स्वाधीनता संग्राम की चढ़ाई इतनी सीधी व फिसलनी है तथा उसमें ऐसे गहरे खाई खन्दक हैं कि अब कांग्रेस से मन के बुड्ढों, बीमारों, बुजदिलों और बदमाशों को अलग हो जाना चाहिये। नई कांग्रेस के कार्य-कर्त्ता कांग्रेस पर भार-स्वरूप न होकर ऐसे हों कि उनको जिस काम की आज्ञा दी जाय वह इस प्रकार कर दिया जाय मानो पहले ही से किया हुआ रक्खा हो। प्रत्येक कार्यकर्त्ता, नेता नहीं हो सकता परन्तु वह अच्छा अनुयायी, सहकर्मी, सहधर्मी, और समानधर्मी बन सकता है और अपने नेता तथा अपने संगठन के गौरव में अपना गौरव समझ सकता है। एक हिन्दी कवि ने कहा है:—

स्वामी से सेवक बड़ो जो निज काम सुजान,
राम बाँधि उतरे उदधि, लांघि गये हनुमान।

कार्य-कर्त्ताओं में अपने नेताओं को, श्रेष्ठ व्यक्तियों को पहिचानने की शक्तियाँ होनी चाहिये। इसी पर लोकतन्त्र और स्वाधीनता की सफलता निर्भर है। यह अनिवार्यतः आवश्यक है कि कार्य-कर्त्ताओं में अपने नेताओं, अपने सङ्गठन, अपने ध्येय तथा अपने कार्य-क्रम के प्रति अटूट श्रद्धा तथा अडिग विश्वास हो। अरबों और इसलाम की सफलता का मुख्य कारण यही था कि उनमें श्रद्धा, विश्वास तथा संकल्प-शक्ति थी और अपने नेताओं के

प्रति उनका विश्वास अगाध था। शक्ति के लिये सब से अधिक आवश्यक बात श्रद्धा है। रूस में बोल्शेविकों को जितनी सफलता मिली है उसका मुख्य कारण श्रद्धा है। हमारे कार्यकर्त्ताओं का मानस ऐसा हो कि वे लोक-लज्जा से जितना डरें उतना गोली और फाँसी से नहीं। साहस उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ होना चाहिए। वे अपकीर्त्ति को मरण से भी बुरा समझें। उनमें वह रजपूती वीरता होनी चाहिए जो, अपनी सेना के हाथियों का काम सरल करने के लिए, उनकी हिम्मत बँधाने के लिए शत्रु-दुर्ग के फाटक की कीलों और अपने उन हाथियों के बीच में खड़े हो जायँ जो फाटक को धक्के मार कर तोड़ने के लिए लगाये गये हैं।

कार्यकर्त्ताओं में अनुशासन और आज्ञा पालनता का होना अनिवार्यतः आवश्यक है। उन्हें यह कभी न भूलना चाहिये कि स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत अनुशासन का मानना स्वाधीनता की पहली शर्त है। वे आत्मानुशासन के महत्व को समझें और यह भी कि क्रान्तिकारी के लिये धृष्ट नहीं शिष्ट होना आवश्यक है।

अब तक कार्यकर्त्ताओं से जो माँगें की गई हैं उनमें जो गुण आवश्यक बताये गये हैं वे ऐसे नहीं हैं जिन्हें औचित्य और आवश्यकता से अधिक कहा जा सके। स्वाधीनता जैसे ध्येय, राष्ट्रीय महासभा जैसे संगठन, महात्मा गाँधी जैसे नेता के प्रति श्रद्धा-विश्वास रखना, उनकी आज्ञा मानने की माँग कोई बड़ी माँग नहीं है। यह ध्येय, यह संगठन और नेतृत्व आज पच्चीस बरस से हमारे सामने हैं। इस पच्चीस वर्ष के अपने प्रत्यक्ष अनुभव

से हम उसकी विजयदात्री अबोध शक्ति का परिचय पा चुके हैं। देश की चालीस करोड़ जनता और विदेशों के समान स्वाधीनता प्रेमी तथा स्वतंत्र विचार वाले उसको आशा, आदर और विश्वास के साथ देखते हैं। उसने सारे संसार में हमारे गौरव को बढ़ाया है। हमारे देश का मस्तक ऊँचा किया है। राष्ट्रीय स्वाधीनता हमारा युग-धर्म है। सत्याग्रह कई बार अपनी अमोघ शक्ति प्रदर्शित कर चुका है। फिर निराश होने की क्या बात है? सच बात यह है कि बात-बात में निराश होना एक आत्मिक बीमारी है जिससे प्रत्येक कार्यकर्त्ता को मुक्त होना चाहिये। ऐसे महान कार्यों में शीघ्र सफलता नहीं मिलती। दूसरे देशों में इनमें दसियों दशाब्दियाँ लगी हैं। शीघ्र सफलता कोई अच्छा उद्देश भी नहीं है।

और नेता के लिए यह भी आवश्यक तथा अनिवार्य होजाता है कि परिस्थितियों को ध्यान में रखकर वह कभी पीछे हटने के लिए कहे तथा ऐसे समझौते करे जो हमें अपने प्यारे आदर्शों और सिद्धान्तों के विरुद्ध मालूम हों; ऐसे अवसरों पर ही नेतृत्व के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास की परीक्षा होती है। इन बातों का निर्णय नेता ही कर सकता है। स्थिति की जटिलता तथा उसकी कठिनाइयों का, सम्पूर्ण परिस्थितियों का ज्ञान उसे ही होता है। किस स्थिति में क्या सम्भव है क्या नहीं इसका निर्णय सिद्धहस्त तथा प्रतिभाशाली लोकनायक ही कर सकता है। लैनिन का उदाहरण हमारे सामने है। उसकी राय के विरुद्ध जुलाई में रूस में जो क्रान्ति की गई, विफल हुई, और जो अक्टूबर की क्रान्ति

उसकी राय के मुताबिक की गई, सफल हुई यद्यपि अखिल रूसी बोल्शेविक कार्यकारिणी का बहुमत तक इस राय के खिलाफ था। नेता भी इन बातों का सफल निर्णय, बुद्धि से नहीं अन्तःदृष्टि से ही कर सकता है। युगात्मा को हम तर्क से नहीं जान सकते। और कब क्या होना चाहिये, इसका वही जज है।

कौन नहीं जानता कि मार्क्स, लैनिन, स्टालिन को कितनी बार पीछे हटना पड़ा। कैसे-कैसे विचित्र समझौते करने पड़े ? उन्हें पूँजीपति-वर्ग से सहायता लेनी पड़ी। पराधीन देशों के स्वाधीनता संग्रामों में तो वे पूँजीपति-वर्ग की सहायता अनिवार्य समझते हैं। किसानों को साथ लेने के लिए बड़े से बड़े सिद्धान्त ताक पर रखने पड़े। मार्क्स ने जर्मनी में उग्र क्रान्तिकारी पार्टी का समर्थन किया। लैनिन ने रूस में केंडरों के विद्रोह के विरुद्ध कैरोस्की की सरकार की सहायता के लिए अपील की। स्टालिन ने १९३९ में हिटलर से पैक्ट किया और १९४१ में जापान से दोस्ती की जो ४४ तक जारी रही। काँग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों ने जितना लोक-हित किया उससे कुछ अधिक किया जा सकता था। विशेषकर राष्ट्रका बल और क्रान्तिकारी शक्तियों को बढ़ाने तथा प्रोत्साहित करने की दिशा में। लेखक ने इस सम्बन्ध में उनकी तीव्र से तीव्र आलोचना की है। स्वयं महात्मा गान्धी ने भी उन की कड़ी से कड़ी आलोचना की है लेकिन उनके वामपक्षी आलोचक यह न भूलें कि सोवियट राज की स्थापना के साथ ही रूस में स्वर्ग की स्थापना नहीं होगई थी। उनके सामने भी बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ आईं। उन्हें भी बहुत विफलताएँ मिलीं। जनता

को भारी कष्ट उठाने पड़े। उनके प्रति इतना असन्तोष था कि किसानों, सैनिकों और मज़दूरों तक को विद्रोह करने पड़े! लैनिन, ट्राट्स्की और स्टालिन तीनों के सम्मिलित शासन में इन्हें जो हेर-फेर करने पड़े उनसे स्वयं कम्यूनिस्ट पार्टी में इतना असन्तोष था कि कई आदर्शवादी कम्यूनिस्टों ने निराश होकर आत्महत्या तक कर डाली! इन सब बातों को हमें काँग्रेस के नेतृत्व की आलोचना करते वक्त भुला नहीं देना चाहिये। यह नहीं भुला देना चाहिये कि लैनिन को यह स्वयं घोषणा करनी पड़ी है कि पोलीटिकल डिक्टेटरशिप के स्थापित होते ही सब श्रमजीवियों को उनके श्रम का पूर्ण फल नहीं मिल सकता। न सब लोगों को नागरिक स्वाधीनता ही मिल सकती है। न उसमें लोकतन्त्र की ही पूर्ण स्थापना हो सकती है। आर्थिक विषमता आज तक रूस में इतनी है कि मज़दूर-मज़दूरों के वेतन में दस गुने तक का अन्तर है। सोविएट रूस में जितनी विषमता तीस बरस के कम्यूनिस्ट शासन के बाद भी बनी हुई है उतनी महात्मा गान्धी काँग्रेस में पराधीन भारत में भी नहीं रहने देना चाहते। लैनिन ने यह भी कहा है कि जो कार्यकर्त्ता इस बात की शिकायत करता है कि मुझसे घण्टे आध घण्टे काम ज्यादा क्यों लिया गया वह स्वार्थी व्यक्तिवादी है। सामाजिक क्रान्ति का कार्य भी एक दिन में सम्भव नहीं। धर्म, स्त्रियों व किसानों के मामलों में कम्यूनिस्टों को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा तथा उन्हें अपनी नीति को कितना नरम करना पड़ा यह सभी को मालूम है। अति वामपक्षियों के विरुद्ध लैनिन को एक

पुस्तक लिखनी पड़ी। उसे उसने राजनैतिक बचपन की बीमारी बताया। आज भी फ्रांस, जर्मनी और इङ्गलैण्ड में अति-वाम-पक्षियों का ज़ोर है यानी जहाँ उन्हें कोई नहीं पूँछता—थोथा चना बाजे घना वाली बात है।

स्टालिन ने यह ठीक ही कहा है कि क्रान्ति के उत्तरदायी नेता को सदैव एक ओर अति-वामपक्षियों और दूसरी ओर अति दक्षिण-पक्षियों का विरोध करना पड़ता है और खूबी यह है कि अति-वामपक्षी सही नेतृत्व का जो विरोध करते हैं उससे प्रति-क्रियावादियों, अति दक्षिण-पक्षियों का बल बढ़ता है। १६३७ से लेकर आज तक का काँग्रेस का इतिहास इस बात के प्रमाणों से भरा पड़ा है। गोपीनाथ श्रीवास्तवों और कम्यूनिस्टों का विचित्र गठबन्धन भी इसी बात का द्योतक है।

काँग्रेस में अति-दक्षिण-पक्षी काँग्रेसियों की काफी संख्या है। इन लोगों में न आत्म-विश्वास है, न अपने नेता तथा जनता की शक्ति में विश्वास। अपने से ऊपर वालों की हर वक्त शिकायत करते रहना तथा जनता और क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ताओं के नाम से भौंकना इनकी खास पहचान है। इनका उसूल है--पत्ता खटका, बन्दा सटका। शक्ति, उत्साह और कार्यारम्भ करने की सामर्थ्य का इनमें नामोनिशान तक नहीं होता। ये लोग ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के ही नहीं, अमेरी और चर्चिल तक के झूँठे वादों पर ब्रह्मवाक्य की तरह विश्वास करते हैं। इनके एक प्रति-निधि ने १६४३ में लार्ड लिंनिलिथगो की जरा सी चिकनी-चुपड़ी बात पर यहाँ तक कह डाला था कि उन्होंने गान्धीजी की स्थिति

खराब करदी। शासक अगर इनमें जूता तथा तमाचा न मारें तो ये समझ लेते हैं कि वे हम पर बहुत कृपालु हैं। ऐसे गान्धी-वादी गान्धीजी के गले की चक्की हैं। वे महात्माजी के कार्यक्रम से सुविधाजनक बातें चुन लेते हैं और उनको जिन बातों में खतरा होता है तथा बलिदान की आवश्यकता होती है उससे दूर रहते हैं। मौजों के लिए ये अग्रे-अग्रे ब्राह्म : के सिद्धान्त को मानते हैं, नदी नालों के नहीं। अन्यायी, अत्याचारी और आत-तायी के प्रति भी डरके मारे धर्म, क्रोध का न आना ये अपनी अहिंसा का प्रमाण समझते हैं। ये क्रान्ति, शक्ति और सत्या-ग्रह की बातों को छोड़ कर केवल सेवा-समितियों के ढंग के कार्य को ही सब कुछ समझते हैं। ब्रिटिश साम्राज्यशाही की कब्र खोदने के खतरनाक काम से दूर भागते हैं तथा पानी-सोख गड्ढे खोदना ग्राम-सुधार का सवस्व समझते हैं। उन वामपक्षियों का शुमार भी इन्हीं में है जो जिस दिन किसी भी संग्राम में जेल में पहुंचते हैं उसके दूसरे ही दिन यदि सफलता न मिली या वे न छूटे तो नये नेता और नये कार्यक्रम की तलाश करने लगते हैं।

अभी तो हमारे बहुत से अग्रगामी, क्रान्तिकारी, साम्यवादी और समाजवादो नेताओं तक की यह दशा है कि वे महात्माजी की बजाय न्यूनतम शर्त्तों तक का पालन नहीं कर सकते। नेताजी साम्यवादी और समाजवादी हैं, पत्नी परदा करती हैं। प्रसिद्ध कांग्रेस कार्यकर्त्ता साथी मुस्लिम कार्यकर्त्ता के साथ सहयोग करने से इसलिए इनकार करते हैं कि कहीं उनकी श्रीमतीजी नाराज़ न हो जायँ। हममें सम्पत्ति

और परिवार का मोह इतना अधिक है कि उसके होते हुए स्वाधीनता संग्राम सर्वथा असम्भव है। कौन नहीं जानता कि नौकरशाही की सत्याग्रह-संग्रामों को शिथिल करने में सफलता जेलें भरने से नहीं, जुर्माना करने से हुई है। अभी हमारे कार्य-कर्त्ताओं ने चार्ल्स डिकिन्स की यह बात भी हृदयङ्गम नहीं की कि देशभक्त के परिवार नहीं होता और जिसके परिवार होता है वह देशभक्त नहीं होता ? न हमारे सभी कार्यकर्त्ताओं ने कवि शिरोमणि तुलसीदासजी के इस क्रान्तिकारी सन्देश को ही अपनाया है कि:—

जिनके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये तिनहिं कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।
तज्यौ पिता प्रहलाद, विभीषण बन्धु भरत महतारी,
बलि गुरु तज्यौ, कन्त ब्रज बनिता, भयौ सब मङ्गलकारी।

नई काँग्रेस को ऐसे देह-पालक-पराजय और पलायन की मनोवृत्ति वाले दूध पीने वाले मजनुओं से शुद्ध और मुक्त होना पड़ेगा। उसमें ऐसे ही कार्यकर्त्ता रह सकेंगे जो सर्वस्व समर्पण करने को, सर्वस्वंस्वाहा कह कर पूर्णाहुति देने को तैयार हों। विफलता इन्हें कभी निराश नहीं करेंगी क्योंकि "कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन" का महामन्त्र उनका जीवन-मन्त्र होगा। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, परिगणित जातियों, देशी नरेशों, अन्य पार्टियाँ आदि के विरोध इन्हें अपने मार्ग तथा विश्वास से विचलित नहीं कर सकेंगे। वे कौमी एकता के लिए भरसक प्रयत्न करेंगे। उसके लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने के लिए

सदैव सहर्ष तैयार रहेंगे परन्तु किसी को भी देश तथा राष्ट्र-द्रोह करने का अधिकार न देंगे और न किसी के राष्ट्र अथवा देश-द्रोह से घबड़ायेंगे।

स्वदेश और उद्देश का प्रेम उनमें ओत-प्रोत भरा होगा। भारत की स्वाधीनता केवल राष्ट्रीय प्रश्न नहीं वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न है। उसी पर मध्य पूर्व के देशों की तथा एशिया की स्वाधीनता निर्भर है। सर स्टैफोर्ड क्रिप्स के शब्दों में ब्रिटेन में समाजवाद की स्थापना भी उसी पर निर्भर है। संसार भर में मानव स्वाधीनता, सब राष्ट्रों की स्वाधीनता, लोकतन्त्र और विश्व-व्यापी शक्ति, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ-साथ समस्त साम्राज्य और फासिस्टवाद तथा पूँजीवाद का विनाश, शोषण तथा युद्धों का अन्त उसी पर निर्भर है, यह उनका यकीदा होगा। उनका यह यकीदा मानव इतिहास के इस तथ्य और सत्य पर आधारित होगा कि जहाँ पश्चिम का राष्ट्रीयता ही नहीं वहाँ साम्यवाद और समाजवाद भी आक्रामक है, वहाँ आज तेईसौ सौ बरस पहले, अहिंसात्मक महान सम्राट अशोक का और आज विश्व-विभूति महात्मा गांधी का जन्म भारत में ही सम्भव हुआ है।

उनका विश्वास है कि स्वाधीतना-संग्राम के समय जनता की शक्ति शतशः बढ़ जाती है और संग्राम का एक कदम दर्जनों कार्यक्रमों से बहतर फलप्रद सिद्ध होता है। अपने ध्येय तथा अपने देश के भविष्य और उसकी उज्वल नियति पर उन्हें अटूट विश्वास होगा। वे यह अनुभव करेंगे कि अखिल विश्व और

नव के कल्याण के लिए भारत की स्वाधीनता आध्यात्मिक
ातिवाद की अनिवार्य ऐतिहासिक प्रक्रिया तथा आवश्यकता
। इसलिये वह अपने कार्यों तथा बलिदानों का फल उस जगन्नि-
न्ता आत्म शक्ति पर छोड़ कर बाहरी विफलता के अँधेरे से
धेरे समय में भी दिव्य दृष्टि, आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से
फलता के सूर्य के दर्शन पाता रहेगा तथा उसे नमस्कार करता
हेगा। भगवान के विराट रूप का दर्शन करते हुए वह यह
त्यक्ष देखेगा कि भारतीय स्वाधीनता के समस्त शत्रु उस आत्म
क्ति के मारे हुए हैं जिसने अपने को "कालोडिस्म" कहा था
ा अहिंसात्मक सत्याग्रह-संग्राम में उसका बलिदान निमित्त
त्र है। वह केवल 'स्वधर्म' का पालन करने के लिए इस भारत
अन्तिम स्वाधीनता-संग्राम में प्रवृत्त होगा और "स्वधर्मे
धनं श्रेयः 'परधर्मो भयावहा' के मूल-मन्त्र को कभी
भूलेगा।

मुद्रक—साहित्य प्रेस, आगरा।

शुद्धाशुद्धि पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृ सं
तवाकाल	नवाकाल	५
स्वराज	प्याज	१४
संगठन	संग्राम	३३
स्वत्वश्रद्धा	स्वल्प श्रद्धा	६८
वर्नस्टील	वर्नस्टीलन	७१
Quentom	Quantom	७४
बचाव	जवाब	७६
नहीं चाहते	चाहते ही हैं	७६
लोड	जोड	८३
एक वर्षीय	एक वर्गीय	८४
पालनता	पालकता	१२१

स्वाधीनता संग्राम